रंग संवाद

मार्च 2014

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) का
संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : vanmalisrijanpeeth@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित। मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

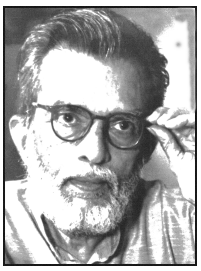

यादें... बातें...
मुलाकातें...

संपादकीय / 3

यादें : एक-एक तारा -वैदेहि / 5

रंगमंच ने मुझे महान बनाया -मृणालिनी साराभाई / 12

नृत्य की ताल पर -श्रीराम परिहार / 16

उपेक्षा का दंश मेरी ऊर्जा बन गया
नृत्यांगना लता मुंशी से विनय उपाध्याय की लंबी बातचीत / 18

विनम्र रंग-आश्वस्ति : मोहन आगाशे -सुनील मिश्र / 29

सवाल करे, वही सच्चा नाटक -एकता गोस्वामी / 31

तँवरघारी का लोकनाट्य -सुधीर आचार्य / 33

लोकनाट्य और भिखारी ठाकुर -अंगद कुमार सिंह / 38

लोक से बढ़कर कुछ नहीं
रंगकर्मी अरुण पांडे से आनंद सिन्हा का संवाद / 40

माटी को ढेलो -नर्मदाप्रसाद सिसोदिया / 44

और रंगत सब सारी मिट्टी की -सुनील मिश्र / 48

सुर में साँस लेता है नग़मा कुछ ऐसे -अभिषेक त्रिपाठी / 49

पलाश वन को लाँघते -नर्मदाप्रसाद उपाध्याय / 54

उन्हें मटियारी महक खोने का मलाल था -विनय उपाध्याय / 56

आवाज़ में घुला रेशमी अहसास -मंजरी सिन्हा / 57

लोक के शिखर कथाकार का जाना -प्रकाश कांत / 58

विकल कला आत्मा : के. रवीन्द्र -शिरीष कुमार मौर्य / 59

नई रंग शैली को साधुवाद -विनय उपाध्याय / 61

'अनुदान' की चौखट में घिर गया नाटक -ब्रजेश अनय / 62

कबीर की वाणी का सुरीला संत : प्रहलाद सिंह टिपाणिया -विनय उपाध्याय / 65

सृजन के आसपास - गूँजे धरती के छंद -विक्रांत भट्ट / 67, **निरंतरता का 'रंग सोपान'** -उदयन वाजपेयी / 70, **नारी की व्यथा गाथा 'मत्स्यगंधा'** -विवेक मृदुल / 77, **जन चेतना के विद्रोही तेवर** -राखी झँवर / 79, **उर्दू नाट्य समारोह** -बद्र बास्ती / 80, **मन लागो मेरो यार कबीरी में** -रवीन्द्र व्यास / 82

● **आकल्पन** : विनय उपाध्याय ● **आवरण चित्र** : के. रवीन्द्र ● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव
● **भीतर के छायाचित्र** : सौरभ अग्रवाल, विजय रोहतगी, प्रवीण दीक्षित, अरुण जैन, अमीन अख्तर, पंकज
● **रेखांकन** : दीपक शुक्ला ● **सहयोग** : मोहन सगोरिया, अरुणेश शुक्ला

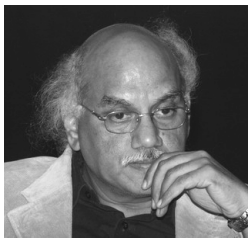

अवचेतन में लोक

वनमाली सृजन पीठ ने पिछले कुछ वर्षों में लोक कलाओं और लोक कलाकारों से संवाद स्थापित करने के तीन महत्वपूर्ण प्रयास किये हैं जिन्हें अगर समवेत रूप में देखा जाये तो कई ज़रूरी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं. ये तीन प्रयास थे ब्रज और मैनपुरी क्षेत्र में गायी जाने वाली, लोक में रची बसी होलियों का एकत्रीकरण, उनमें बसे शास्त्रीय आधार की पहचान और उनका पुनः नवीकरण; निमाड़ क्षेत्र में उपलब्ध संजा गीतों की पहचान, उनकी मंचीय प्रस्तुति और उस पर आधारित सी.डी. का निर्माण; तथा हाल ही में मध्यप्रदेश के चार जनपदीय क्षेत्रों में लोक गायकों के बीच प्रतिभा खोजने के प्रयास, करीब तीस नयी लोक गायन मंडलियों का भोपाल में प्रस्तुतीकरण और प्रख्यात कबीर गायक प्रहलाद टिपाणिया द्वारा उनका सम्मान.

संपादकीय

मेरे लिये व्यक्तिगत रूप से ये तीनों ही काम एक अद्‌भुत अनुभव थे और लोक तथा शास्त्रीय के बीच रिश्ते को पहचानने की अंतर्दृष्टि भी प्रदान करते थे. उदाहरण के लिये जब पहले पहल मैंने लोक गायकों से होलियों का गायन सुना, जिनमें प्रेम और भक्ति की अपूर्व धारा बहती थी, तो मेरी आँखों से झर झर आँसू बहने लगे, लगा भीतर से कुछ पिघल रहा है और मैं एकदम तरल सा होकर उसके साथ-साथ बह रहा हूँ. अपने आपको आधुनिक मानने वाले, सूचना तकनीक जैसे अत्याधुनिक विषय पर काम करने वाले संस्थानों के संचालन में गहरे डूबे व्यक्ति के साथ भी, लोक की पवित्रता के साथ अंतर्क्रिया करने पर, ऐसा अनुभव हो सकता है यह मुझे पहले पहल महसूस हुआ. उन गीतों की भाषा, उनमें बैठा रस, उनकी गहरी उदासी और कविता में उत्सर्ग की भावना अचानक आपको बहुत गहरे तक छू सकते हैं और आपको भीतर से उजला और पवित्र बना सकते हैं यह मैंने उन पर काम करते हुये जाना. तो क्या तमाम आधुनिकता के बावजूद भारतीय मानस में लोक की ही प्रतिष्ठा है और क्या शुचिता के लिये हमें वहीं जाना पड़ेगा?

प्रहलाद टिपाणिया का कबीर सुनते हुये इस धारणा की पुष्टि होती है. वे एक ऐसा आध्यात्मिक वातावरण निर्मित कर देते हैं जिसमें सिर्फ एक ध्वनि होती है, एक नाद और उसकी अनुगूंज निरंतर आपके मन में होती है, और आप अचानक बहुत हल्का, बहुत मुक्त, बहुत एकाग्र सा महसूस करते हैं. क्या यही अनंत के साथ एकात्म होना है?

पंडित कुमार गंधर्व ने मालवा में गाये जाने वाले कबीर में अपनी शास्त्रीयता की तलाश की और उनके गायन में इस लोक शैली की झीनी-झीनी छाया दिखती है. कुमार गंधर्व का प्रभाव भी आपके मन पर कुछ-कुछ वैसा ही पड़ता है- मुक्ति और वैराग्य के भाव जैसा- जो प्रहलाद टिपाणिया को सुनते हुये पड़ता है.

शास्त्रीय की ये झलक आपको ब्रज की होलियों में भी मिल जायेगी. अगर आपके कान रागों को पहचानने के अभ्यस्त हैं तो आप इन होलियों में काफी, झिंझोटी और बिहाग जैसे कई राग पहचान लेंगे. धमार तो धमार के नाम से ही गाया जाता है और चालीस पचास लोगों की टोलियाँ सामूहिक रूप से, इसे आसानी से गा लेती हैं. उनके द्वारा गाये गये रसिया और चैती आपको भाव विव्हल कर देंगे. जब हमने इन्हें रागों में ही निबद्ध कर, स्टूडियो में साफ सुथरे रूप में रिकॉर्ड किया, तो युवाओं को वे विशेषकर पसंद आयीं, चतुर्वेदी समाज की वे धरोहर बनीं, जहां होली गायन की सदियों पुरानी परंपरा है, और एफ.एम. रेडियो स्टेशनों ने उन्हें मांगकर प्रसारित किया. इस पूरे अनुभव से, मुझे प्रकृति में बसे संगीत से लोक के उद्‌गम और वहाँ से शास्त्रीयता के विकास का रास्ता जगमग दिखाई पड़ता है और यह भी कि परंपरा स्मृति में बसती है और आधुनिकता का अर्थ इस रास्ते की तलाश करना है.

संजा गीतों को सुनते समय और उन्हें रिकॉर्ड करते समय सबसे पहले तो मुझे अपनी बहनों की याद आई. हम लोग खंडवा में रहे हैं और बहनें अपने बचपन में (जो मेरा भी बचपन था) संजा घर में रखती थीं. उस समय वह एक घटना, एक खेल, एक उत्सव की तरह होता था जिसमें मैं भी भागीदार था. पर इस बार गीत सुनते समय मुझे उनके जीवन, उनके दुख, उनके संघर्ष ज्यादा साफ-साफ दिखे. महिलाओं, विशेकर ग्रामीण भारतीय महिलाओं का परिवेश और आम भारतीय समाज की पारिवारिकता जिस तरह इन गीतों में आती हैं वह आपके भीतरी विश्व को बहुत समृद्ध बनाता है.

स्वाभाविक ही था कि हम अपने इस काम को आगे बढ़ाते. पिछले वर्ष हमने निश्चय किया कि मध्यप्रदेश के चार अंचलों में जाकर वहाँ के लोककला समूहों से बात की जाये, उन्हें सुना जाये और सामने लाया जाय. मालवी, निमाड़ी, बघेली एवं बुंदेली क्षेत्र के सैकड़ों समूहों से बात कर एक प्रतिभा खोज प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिससे तीस ऐसे नये समूह सामने आये जो नवीनता के साथ इन बोलियों को बरत रहे थे. उनके गीतों को 'लोक तरंग' समारोह में भोपाल में प्रस्तुत किया गया. भाषा, रस, लोक परंपरा और छांदिक परंपरा के बिल्कुल ताज़ा अनुभव हमें इन समूहों में मिले. इस पर एक विस्तृत रिपोर्ट 'रंग संवाद' में जा रही है. सृजन पीठ न सिर्फ इस काम को जारी रखेगी बल्कि यथासंभव इसका विस्तार भी करेगी.

एक तरह से यह अंक लोक परंपरा को समर्पित अंक बन गया है. इसमें 'लोक तरंग' पर विस्तृत रिपोर्ट के साथ-साथ लोक के शिखर कथाकार विजय दान देथा पर आलेख, स्मृति शेष रेशमा पर एक टिप्पणी एवं प्रहलाद टिपाणिया पर एक आलेख भी है. प्रख्यात नाट्य निर्देशक ब.व. कारंत के साथ एक विस्तृत बातचीत है जो बहुत सारी लोक शैलियों से होकर गुजरती है. तँवरघारी का लोक नाट्य तथा भिखारी ठाकुर के रंगकर्म पर चर्चा है. अरुण पांडे का मानना है कि लोक से बढ़कर कुछ नहीं.

आप क्या सोचते हैं, हमें अवश्य बतायें.

शुभकामनाओं सहित

-संतोष चौबे

यादें : एक-एक तारा

रंगकर्मी ब.व. कारन्त का स्मरण

वैदेहि (अनुवाद : बानी शरद)

हर आदमी के भीतर छिपे होते हैं, दस-बीस आदमी जब भी देखना ज़रा गौर से देखना... शायर निदा फाज़ली का कहा यूँ हर शख्सियत के लिए मौजूं हैं लेकिन फिर भी ज़िंदगी के फलसफे पर कुछ लोग इतने गहरे और दूर तक रचे-बसे होते हैं कि हर बार उन्हें नए सिरे से देखना-परखना भला लगता है। बावाकुड़ी वेंकटरमन कारन्त एक ऐसे ही रंगमनीषी थे। जीवन और कर्म की बेशुमार छवियों से आच्छादित उनके आभामंडल को भेदना अक्सर दूभर रहा है। ज़िंदगी के आखिरी पड़ाव पर जब मणिपाल की शोधार्थी सुश्री वैदेहि ने कारन्तजी से अंतरंग संवाद किया तो कई अनछुए पहलू रौशन हुए। हमारे आग्रह पर वैदेहि का यह विरल 'कारन्त-संवाद' हमें रघुवीर होल्ला ने उपलब्ध कराया है जो भारत भवन के तकनीकी विभाग के प्रमुख हैं। होल्ला की कारन्तजी से पुत्रवत निकटता रही। वे ब.व. कारंत न्यास के न्यासी भी हैं। 'रंग संवाद' वैदेहि और रघुवीर होल्ला का आभारी है।

आत्म कथात्मक संस्मरण

ये वो समय था जब फिल्म सब्सिडी कमेटी का हिस्सा होने के नाते हम लगातार बेहतरीन फिल्में देख रहे थे। यह बहुत थकाने वाला काम था पर खुशी की बात ये थी कि ब.व. कारन्त इस कमेटी के अध्यक्ष थे। यह हमारा सौभाग्य था कि हम कारन्त जी के संस्मरण, अनुभवों और विचारों को सुन पाते थे। उनकी बातचीत का सिलसिला अनेक विषयों से गुजरता हुआ, अन्त में अवश्य ही रंगमंच तक पहुँच जाता था। उनके संस्मरणों को सुनते हुए मैंने विचार प्रकट किया कि कितना अच्छा होता यदि कोई इन संस्मरणों को लिपिबद्ध करता जाता। (तब तक उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ना शुरू हो चुका था)

मैंने श्री रंगनाथन को सुझाव दिया, जो तब प्रिज्म पब्लिशिंग हाउस में कार्यरत थे कि वो किसी को इस कार्य के लिए ढूँढ़े। उन्होंने जवाब दिया, आप ही क्यों नहीं करती? 'मैं'? मुझे आश्चर्य हुआ किसी! और के बजाय मैं? 'मेरी थियेटर के बारे में जानकारी, बड़ी मामूली-सी है और कारन्त तो यादों के अथाह सागर हैं।'

'नहीं-नहीं, कृपया आप ही यह काम कीजिए। हम इसे छापेंगे।' उन्होंने आग्रह किया और इस बात को वहीं छोड़ दिया, वो एक टेपरेकार्डर और पाँच कैसेट्स भी मेरे पास रख गये। बहरहाल, मैंने तय किया कि कोशिश की जानी चाहिए। जब, कारन्त जी के पास गई तो उन्होंने कहा- 'ओह, जरूर कीजिए, पर हाँ मैं डिक्टेटर तो नहीं हूँ, एक सीधी रेखा में सब कुछ नहीं कह पाऊँगा, विचार यहाँ से वहाँ घूम जाते हैं, उन्होंने माना।

'आपको जैसे भी सहज लगे, कहिये।' उस क्षण उन्हें मुश्किल से विश्वास हुआ कि वे अपने जीवन की यादों को दोहरायेंगे जो अन्ततः किताब के रूप में छपकर सामने आयेगी। उन्हीं के समान खुद मुझे भी विश्वास नहीं हो पा रहा था। नोट्स बनाती गई। हल्के-फुल्के ढंग से शुरू हुआ कार्य गम्भीर शक्ल लेने लगा। जब भी हमें कोई फिल्म देखने के लिए नहीं होती थी, हम प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया में व्यस्त हो जाते। कारन्त यादें बटोरने लगते। मेरे सवाल महज एक excuse होते। वे अपने बचपन के बारे में बताते-बताते अचानक, तीरिना मल्लाना फिर गुब्बी वीरण्णा से कान्चिनडका पढवु की ओर चले जाते। मैं सुनती रहती बिना ये कहे कि क्रमपूर्वक कहिए, जो तारतम्य को बिगाड़ देता। फिर ये बात तो हमने शुरू में ही तय कर ली थी कि न। कभी-कभी मैं कोशिश करती- 'हम यहाँ बाद में वापस नहीं आ सकते?' आप जो कर रहे थे वो अधूरा छूट गया; 'अरे क्षमा करना, मैं तुम्हें इतनी देर से बोर कर रहा था। वो बेचैन होकर कहते 'भूल जाओ, इसे ऐसे ही चलने दो, ऐसे ही चलते-चलते हमें स्पष्ट रास्ता दिखने लगेगा, मैं अपने आपसे कहती पर ऐसा होता नहीं। वो प्रश्न को पीछे छोड़ बनारस जा पहुँचते और वहाँ से कहीं और। आश्चर्य इस बात का था कि यहाँ से वहाँ जाते हुए भी वो आवश्यक तारतम्य बनाये रखते थे। मैंने जब कोशिश की तो तार जोड़ पाना मुश्किल लगा। वो सिर्फ बोलने में ही सम्भव था। टूटे शब्द, विचार, कहावतें, सिलसिला चलता रहा बिना किसी गम्भीर प्रारूप के। फिल्में देखने का सिलसिला भी अब खत्म हो चला था। तय रहा कि कारन्त किताब के लिए समय निकालेंगे और जल्दी ही हमें खबर करेंगे। उन्होंने मुझे बतलाया कि वो लगभग तुरन्त ही उडुपि पहुँचने जा रहे हैं।

उसके बाद जो काम तेजी से आगे बढ़ा तो उसका श्रेय कारन्त के प्रिय मित्र मैसूर के जयराम पाटिल को जाता है। 29 जुलाई 2000 को मेरे एक बहुत करीबी रिश्तेदार का देहावसान हो गया। मैं शिमोगा में थी। एक अजीब-सी शून्यता ने मुझे घेर लिया था। पाटिल का फोन आया-कारन्त ने समय निकाल लिया, मैं उन्हें

लेकर पुत्तूर आ रहा हूँ। पुत्तमुडि, कुककजे, पाने मेंगलोर होते हुए अन्त में उडुपि आयेंगे, तुम तुरन्त पहुँचो। मैंने उन्हें अपनी दशा के बारे में बतलाया। 'नहीं, देर न करें। उन्होंने समय निकाला है, अगर हम इस मौके को हाथ से जाने देंगे, वो फिर गायब हो जायेंगे।

मैं 30 जुलाई की सुबह शिमोग्गा से मणिपाल सुबह 10.00 बजे पहुँच गई। मुझे शाम को पुत्तूर के लिए निकलना था, पर अचानक मेरे अन्दर अपने दूसरे भाई से मिलने की तीव्र इच्छा जागी जो पिछले कुछ समय से अस्वस्थ चल रहे थे। वो मणिपाल में ही थे और बेहद कमजोर हो गये थे। मैं उनसे मिलने गई और बतलाया कि मैं 'ब.व. कारन्त से मिलने पुत्तूर जा रही हूँ।' 'क्यों....इतनी जल्दबाजी में क्यों?' 'हम...म..., मैं एक किताब लिखना चाहती हूँ। कारन्त भी बहुत स्वस्थ नहीं हैं। 'क्या'? थोड़े चिन्तित स्वर में मैंने कहा..., शायद... 'केन्सर', मेरे भाई ने हल्की हँसी के साथ कहा- 'अरे मेरा केस भी कुछ ऐसा ही है।'

छोटा-सा टेपरेकॉर्डर चलता रहा, बाबुकोड़ी में अब घर नहीं रहा था, केवल उसके निशान बाकी थे। क्या उनकी आँखें भर आयीं थीं? आँसुओं के पर्दे को छुपाते हुए उन्होंने बहुत बारीकी से हर दीवार का विस्तृत वर्णन किया, उस घर के दरवाज़े खिड़कियाँ, जो अब वहाँ थे नहीं।

मैं भौचक्की रह गई। आज भी उस क्षण को याद कर, मैं काँप जाती हूँ। सच है कि कारन्त ने स्वयं अपनी बीमारी के बारे में बतलाया था कि उन्हें केन्सर है पर इस बात की मैंने जरा भी कल्पना नहीं की थी। ये बीमारी मेरे घर भी घुस जायगी। मुझे ये बतलाने के मात्र तीन माह में, वो चला गया। जिन-जिनसे वो मिलना चाहता था उन सबको उसने बुलवाया, बातचीत की, हाथ मिलाया और...

उस रात 10 बजे मैं पुत्तूर पहुँची। पाटिल, कारन्त के साथ गाड़ी में पुत्तूर पहुँच गये। अगले दिन 31 जुलाई को मैंने अखबार खोला और पाया कि डॉ. राजकुमार को विरप्पन ने अगवा कर लिया है। पूरे प्रदेश में भयानक उथल-पुथल और अराजकता फैल गई थी। कारन्त जी का राजकुमार के साथ डुब्बी कंपनी के दिनों से एक गहरा जुड़ाव था। वो अचानक गहरी खामोशी में डूब गए, धीरे-धीरे वो उससे उबरे और हमने यात्रा प्रारम्भ की।

पुत्तूर, महालिंगेश्वर मंदिर, शान्ति भट्ट का घर (उन्होंने अपने घर का मुख्य द्वार बदल लिया था) इसलिए कारन्त को उसे खोजने में परेशानी हुई। अगर डायरेक्टर बेलूवार हमें मार्गदर्शन न देते तो हम कभी उसे ढूँढ़ ही नहीं पाते। वहाँ से हम कुक्राबेट्ट, कुकाज्जे, पदुमाडी, पाते मैंगलोर, काजे एंट रमणा के घर, नूजीबाइलू गोपाल कृष्ण भट्ट के घर और उनके चाचा मंटपा रामातेया के घर दासराबाइलू भी गए।

बाबू कोड़ी मं पंजुरली देव के मंदिर जाने के लिए रोड से उतर कर नीचे घाटी में जाना होता था। हमें पक्का पता भी नहीं था कि क्या हम सही सड़क पर जा रहे थे या हम जिस रास्ते पर जा रहे थे उसे ही सही समझ रहे थे। पिछली रात कारन्त की तबियत बिगड़ गई थी, और आधी रात को बोकन्त कोड़ी ईश्वर भट्ट अस्पताल से उनका इलाज करवा कर वापस लाये थे। वो इस वक्त पूरी तरह ध्यानमग्न लग रहे थे। वो अपने गाँव में ऐसे घूम रहे थे; जैसे मछली को अपना जल मिल गया हो। उन फिसलन भरे ढलानों पर कारन्त दौड़ते फिर रहे थे। क्या उन्हें अनुभव हो रहा था कि वो अपने गाँव में अन्तिम बार आए थे? ऐसा सिर्फ मुझे ही महसूस नहीं हुआ, बल्कि पाटिल को भी हुआ या यह केवल एक एहसास ही था?

वो कूकज्जे के स्कूल गए, वहाँ शिक्षकों और छात्रों से गपशप की, अहाते में आश्चर्य मिश्रित खुशी के साथ घूमे-फिरे, और उन्हें अनुसरण करते रहे हम दोनों। दोपहर के भोजन के वक्त हम पहुँचे पट्टुमुड़ी। हम मुख्य द्वार से घर में प्रविष्ट हुए और अभी हम ड्योढ़ी तक पहुँचे भी नहीं थे कि पट्टुमुड़ी रमेश राव ने मुझसे कहा- ''आपके लिए एक फोन आया था। आपके जिन रिश्तेदार की हाल ही में शिमोगा में मृत्यु हुई है... उनकी पत्नी भी आज सुबह गुजर गयीं। उन्होंने मुझे आप तक यह खबर पहुँचाने के लिए कहा था।'' ''हे शिवशंकर'', तीव्र गति से करने पड़े थे। बस यही बहुत था कि वो उसी दिन पहुँच गए। अगर मैं ये काम बीच में छोड़कर शिमोग्गा चली भी जाती तो भी वहाँ पहुँच नहीं पाती और संणक्का कभी ये पसन्द नहीं करतीं कि मैंने अपना काम अधूरा छोड़ दिया। मैं बेहद दुखी थी। प्रकट नहीं कर सकी, बल्कि प्रकट करना चाहिए भी नहीं।

जब हम सब विशेष भोजन ग्रहण कर रहे थे, कारन्त अपनी यादों को जी रहे थे। वो मुख्यद्वार और ड्योढ़ी पर जब-तब आ-जा रहे थे। वो अपने मित्र गोपाल से गपशप कर रहे थे जो वहीं बैठा हुआ था। वे निरुद्देश्य से घूम रहे थे, अन्दर-बाहर भगवान का कमरा, जागत्ते, वो दरवाजे की नक्काशी को छू-कर महसूस कर रहे थे- एक छोटे बच्चे की तरह। वो सीताअक्का के कमरे में गए और इस सबके दौरान वो समझाते भी जा रहे थे।... छोटा-सा टेपरिकॉर्डर चलता रहा, बाबुकोड़ी में अब घर नहीं रहा था, केवल उसके निशान बाकी थे। क्या उनकी आँखें भर आयीं थीं? आँसुओं के पर्दे को छुपाते हुए उन्होंने बहुत बारीकी से हर दीवार का विस्तृत वर्णन किया, उस घर के दरवाजे खिड़कियाँ, जो अब वहाँ था नहीं। जब हम वहाँ से जाने ही वाले थे, उनके बचपन के दोस्त पावलो वहाँ आ पहुँचे। छोटे कपड़े, कंधे पर गमछा और हाथ में हँसिया। अति उत्साह से कारन्त ने कहा- ''ये ही हैं वो, ये ही हैं वो पावलो!''

अपनी बचपन की दोस्ती की याद में बड़ी-सी मुस्कान के साथ खड़े होकर उससे बातें करने लगे। क्या बातें?

''ये वही जगह नहीं है जहाँ पहले तुम लोग रहते थे?''

''हाँ।''

''अब वो मकान नहीं रहा।''

''हाँ, मुझे भी इस बारे में पता नहीं था।''

''बहुत समय हो गया।'' पावलों ने कहा, अपनी अटपटी-सी कन्नड़ में जो तुडु और कोंकणी का मिश्रण थी। कारन्त पावलों के बचपन के बारे में बतला चुके थे, जो नई शर्ट पहनकर करिंगाना चर्च

गया था। वो छोटा बच्चा जो बड़ा होकर कर्मठ सिपाही बना और अब कारन्त के सामने खड़ा था, अपने बुढ़ापे में। वो वहाँ खड़ा था सन्तुलित, अपनी संयमित मुस्कान के साथ। उसमें किसी तरह का संकोच नहीं था, जैसा कि होता है जब आप किसी महान व्यक्ति के साथ खड़े होते हैं।

कन्चीनड़का का गीत, पान मैंगलोर का स्कूल, दासराबैलू... बार-बार, बार-बार रिकॉर्ड होता रहा। एक साधारण व्यक्ति के लिए उसे समझ पाना असम्भव था। इन चार कैसेट्स को सिर्फ मैं ही समझ सकती थी क्योंकि मैं उनकी पृष्ठभूमि जानती थी। यहाँ ये वो आए उडुपि और कुछ दिन किडियूर होटल ठहरे। वो सुबह घर आ जाते और अपनी यादें ताजा करने लगते (बीच-बीच में कुछ देर आराम के साथ) पूरे दिन भर। मेरे सवाल-उनके जवाब, डॉक्यूमेंटेशन प्रगति कर रहा था। एक बार आलोचक प्रोफेसर मुरलीधर उपाध्याय उनसे बातचीत करने आए। अब मैं दीदी थी, पहले अक्का, फिर अचानक तुम मेरी छोटी बहन हो... वगैरा वगैरा।

आज नाश्ते में क्या बनाया है? नीरदोसे है क्या?'' (उन्हें इस प्रकार के दोसे बहुत पसंद थे और वो उन्हें चाव से खाते थे, पर अन्तिम बार जब वो मेरे घर आए, तब एक दोसा खा पाना भी उनके लिए कितना कठिन था।

रोज, जब वो मेरे घर की ओर चलकर आ रहे होते, बहुत सारे कुत्ते कम्पाउण्ड की दीवार पर आराम फरमा रहे होते। जब वो कारन्त को ''तुम कौन'' के भाव से घूर रहे होते तो कारन्त ''और क्या खबर है?'' उनसे पूछते हुए अन्दर आ जाते। ''ये कोरस है नवरस के।'' वो कहते। जब कभी उनका हल्ला ज्यादा बढ़ जाता वो उन्हें जोर से डाँटते-ठीक है, ठीक है, बस करो। ये क्या है? क्या तुम युद्ध के लिए पताका लहरा रहे हो? वो उन पर जोर से बरस पड़ते। एक न एक कुत्ता उनका स्वर पकड़ लेता और उन पर पलटता। वो उसे शान्ति का पाठ पढ़ाते जिसके जवाब में या तो वो समवेत स्वर में भौंकने लग जाते या इधर-उधर हो जाते। जैसे कह रहे हों- ''आखिर ये है कौन?'' पाटिल, बहुत दिन रहे और बातचीत समाप्त हो जाने पर उन्हें वापस बैंगलोर ले जाते, ऐसा तीन बार हुआ। मेरे पास शब्द ही कहाँ हैं जिनसे मैं पाटिल का धन्यवाद कर सकूँ।

''मेरी तबियत काफी बिगड़ गयी है। प्रेमा को दिल्ली जाना है। मुझे घर पर अकेला रहना होगा। मैं तुम्हारे घर आऊँगा। हम कम-से-कम किताब पर काम कर सकेंगे। क्या ऐसा ठीक रहेगा?''

''जरूर।''

दिसम्बर 2001 में वो काफी बीमार थे और हमारे घर पर रहे। वो एयरपोर्ट से कार में आए। वो अभी ऑगन में ही थे और मुझसे धीरे से बोले, ''अगर कुछ हो जाए तो कृष्णा को बुला लेना। वो आ जायेगा। मैंने उससे कहा है सब कुछ करने के लिए।''

वो थके हुए थे, उनके कदम डगमगा रहे थे। उनमें थोड़ी-सी भी सीढ़ियाँ चढ़ने की शक्ति नहीं थी। वो आते ही सो गए बिना कुछ खाए हुए। जब वो जागे तब उन्होंने कुछ खाया। उन्होंने बातें करनी शुरू कीं। उनकी भोजन की मात्रा बेहद कम हो गयी थी। अपने सामान्य गाजर के सूप के साथ, इस बार वो पपीता भी खा रहे थे। ''ये पित्त के लिए अच्छा होता है (मूर्थी, पपीता बढ़िया है, सही पका हुआ, कल ज्यादा पका हुआ था)। जब-तब वो सोया मिल्क पीते। वो अपने साथ सोया पाउडर लाये थे। ''अगर यहाँ न मिले तो!'' जब हम बैंगलोर में फिल्में देख रहे थे, मुझे याद है उनका एक प्रशंसक उनके लिए गेहूँ के ज्वारों का रस लाया करता था। बावजूद इसके कि क्या बीमारी थी और क्या उसका इलाज था भी, कारन्त जब तक जीवित थे सक्रिय रहना चाहते थे। ''मुझे मृत्यु का भय नहीं है। पर मेरा अन्त कैसे होगा? मैं निष्क्रिय नहीं रहना चाहता...।''

दिसम्बर 15 को (बीच में वो बीमार हुए थे और के.एम.सी. अस्पताल मणिपाल में 5 दिन भर्ती भी रहे थे)। वो वापस जाने के लिए पूरी तरह तैयार थे। उन्हें अगले कुछ दिनों के लिए कहीं दूर जाना था। उनके भाई कृष्णा कारन्त कार लेकर आए थे, उन्हें एयरपोर्ट पर छोड़कर आने के लिए। सुबह के साढ़े आठ बजे थे। वो चलने के लिए खड़े हुए,'' पता ही नहीं चला कैसे ये दिन बीत गए...। शायद ये आखरी बार है... अच्छा, मैं चलूँ?''

मुझे याद है उनका एक प्रशंसक उनके लिए गेहूँ के ज्वारों का रस लाया करता था। बावजूद इसके कि क्या बीमारी थी और क्या उसका इलाज था भी, कारन्त जब तक जीवित थे सक्रिय रहना चाहते थे। ''मुझे मृत्यु का भय नहीं है। पर मेरा अन्त कैसे होगा? मैं निष्क्रिय नहीं रहना चाहता...।''

सड़क के दूसरी ओर बैठा हुआ कुत्ता जो उन्हें जाते हुए देख रहा था, उससे कारन्त ने कहा, ''और, नाश्ता हो गया?'' वो कार में बैठ गए। दो मिनिट के लिए सब निःस्पन्द अवस्था में आ गया था। कार चली गई। हम चुपचाप अन्दर आ गए, जैसे हमारे सारे शब्द खो गए हों। पूरा घर सन्नाटे में डूब गया।

मेरे नाना का घर सण्ण कन्दूर में था। मैं वहाँ कभी-कभी ही गई थी, मेरी मामी कारन्त का जिक्र ले आतीं, और कहतीं, ''वो मेरी रिश्तेदारी में हैं। मेरी रिश्तेदारी है। मैं भी पुच्चे केरे से हूँ...।' और वो रिश्तेदारी समझाने लगतीं जो कारन्त, पुच्चेकेरे और उनके बीच थी। मैं, वो क्या कहती थीं इसे कभी समझ नहीं पाती। उनके कहने के तरीके की वजह से नहीं बल्कि इसलिए क्योंकि मैं उनके चेहरे की खुशी के भाव, मुद्राएँ आदि देखने में ही खो जाती। उन्हीं की तरह मेरी माँ भी कहतीं, ''ओह, ये वो व्यक्ति हैं ना? है कि नहीं? बाबुकोड़ी, पुट्टुमुड़ि के पास वाला? वो तो हमेशा हमारे यहाँ दोड्डा कन्दूर (पैतृक आवास) में आया करते थे, भजन-कीर्तन के लिए।''

ऐसे सुनते रहने के बाद मुझे लगने लगा कि कारन्त में, बंटवड़ा से आने वाले लोगों के साथ काफी साम्य है। एक बार आपको किसी के पुरखों के बारे में पता चल जाए तो अनजाने ही आप बारीकियों पर ध्यान देने लगते हैं। कोशिश करके नहीं, आप स्वाभाविक रूप से ही

मुझे लगा कि शायद वे इस कन्नड़ को भूल चुके होंगे क्योंकि वो घर से बहुत लम्बे समय तक दूर रहे थे। एक बार तो उन्होंने कहा कि वो भूल चुके हैं, पर ये भूली हुई कन्नड़ा, जब वो अपने बचपन को याद कर रहे थे, उनके पास वापस लौट आई। वो बहुत स्वाभाविक रूप से अपनी बोली पर वापस आ गए।

तुलना करने लगते हैं। एक बार मैंने इसे कारंत के सामने माना था। फिर उन्होंने बड़े ही विस्तार से बतलाया कि कैसे आवाज, चेहरे के भाव, भंगिमा, चाल-ढाल... वगैरा स्थानीय होती है। वैसे भी यह उनके प्रिय विषयों में से एक था। इसके अलावा जो मुझे बहुत अच्छे से याद है कि कारन्त जो बोली बोलते थे, वहाँ होग्गू-बरग्गू कहा जाता था (होगबेकु-बरबेकू नहीं, आने और जाने के लिए)। उन्होंने इस बोली को किसी भी नाटक में इस्तेमाल क्यों नहीं किया? ये कन्नड़ की ऐसी बानी है जिसमें बहुत सम्भावनाएँ भरी हुई हैं। ऐसा लगता है; जैसे इसे बनाया ही गया है मस्ती-मजाक के लिए। मैंने उनसे पूछा तो बोले- ''इसीलिए मैं आंचलिक रंगमंच होने पर इतना जोर देता हूँ।''

मुझे लगा कि शायद वे इस कन्नड़ को भूल चुके होंगे क्योंकि वो घर से बहुत लम्बे समय से दूर रहे थे। एक बार तो उन्होंने कहा कि वो भूल चुके हैं, पर ये भूली हुई कन्नड़ा, जब वो अपने बचपन को याद कर रहे थे, उनके पास वापस लौट आई। वो बहुत स्वाभाविक रूप से अपनी बोली पर वापस आ गए। अगर जबान फिसली तो मुझे पता चल ही जाता। ''अदु हंग अलैये'' (वो ऐसा नहीं है!) मैं उन्हीं की बोली में जवाब देती। जब वो पुच्चेकेरे के शंकर माइया के बारे में बतला रहे थे, मुझे उनका पुच्चेकेरे से संबंध स्पष्ट समझ में आ गया। मैंने धीरे से उन्हें अपनी मामी के बारे में बतलाया। ''सच? कौन? ओ हो...। वो तुम्हारे मामा की पत्नी है?'' वो बोले। मुझे पता नहीं कि उन्हें सचमुच याद आ गया था या वो यूँ ही झूठमूठ बना रहे थे। उनका दुनिया से नाता खो चुका था। ''ओह मामी, मुझे अब समझ में आए वो जो तुम मुझे समझाया करती थीं...। अब समझ आया तुम्हारे एंटरमणा ने क्या कहा...'' मेरी, अपनी मामी से, ऐसा कहने की इच्छा हुई। पर वो कहाँ थी? वो अब नहीं रहीं। दुखद... वो चली गईं बिना कारन्त का एक भी नाटक देखे। ''लोग कहते हैं, कारन्त ने रंगमंच में बड़ा नाम कमाया है?'' वो हर बार ये कहतीं। उनके कारन्त के नाटक न देख पाने का कारण ये नहीं था कि वो कन्दूर में रहती थीं, एक गाँव जो दुनिया के छोर पर था, पर इसलिए कि धीरे-धीरे उनकी दृष्टि इतनी कमजोर हो गई थी कि वो पूरी तरह से दृष्टिहीन हो गई थीं।

मुझे याद है मेरी माँ और कारन्त का कुन्दूर और आस-पड़ोस के बारे में बतियाना। ऐसा नहीं कि कारन्त बहुत सी बातें करते थे। ज्यादातर तो वो जो पूछते थे वो ये कि ''फलाना कहाँ है? और अमुक?' मेरी माँ को जितना याद था वो बतलातीं। जब माँ उनसे बात करतीं किसी गहरी सोच में डूबे लगते, या कहीं विचारमग्न थे। अचानक उन्हें कोई याद आ जाता, ''वो कहाँ है?'' 'ओ...वो? वो तो गुजर गया। अब तो दो साल होने को आ गए।'' मेरी माँ कहती।

अगर तब मुझे पता होता कि हम एक किताब पर काम करेंगे, तो शायद उन्हें रिकॉर्ड कर लेती। मैं उनकी इन सब यादों से जुड़ी बातें करती। मुझे हमेशा लगता, ये सब लोग कारन्त जी का हिस्सा थे, 'रंगमंचीय घटनाएँ'। उसमें काफी कुछ था, क्या कहते हैं? ये महज एक 'फिलॉसॉफिकल डेलिब्रेशन' है।

पर ये सब बातें उठाने का अब औचित्य क्या है? कारन्त तो इन रिश्तों से बँधे नहीं थे, सही है। पर मुझे एक लाभ है। खासतौर से उनकी बचपन की यादें, उनका मूल स्थान और उसमें बसे लोग- उन सबको मैं जानती थी, अपनी माँ के द्वारा। पट्टुमड़ी घर कितना प्रसिद्ध था। वहाँ के निवासियों के हृदय में एक महत्वपूर्ण स्थान, व्यक्तिगत से भी आगे का कारण। उन दिनों मेरे सारे रिश्तेदार अपनी बातचीत में पट्टुमड़ी का जिक्र ले ही आते थे। उस घर से कोई संबंध था। हर एक के पास अपनी एक वजह थी, एक खास जुड़ाव की। ये मुझे समझ में तभी आया जब मैं कारन्त के साथ वहाँ गई। कारन्त जिस घर में रहते थे वो हमारे लिए चिर-परिचित था, मेरी माँ की कहानियों के कारण। इसीलिए उनके बचपन के कुछ वर्णन मुझे स्वाभाविक रूप से आत्मसात हो गये और कुछ सदृश्य/सचित्र। जो मेरी कठिनाई थी वो थी उसे एक चौखटे में जड़ना, उन बिखरे हुए शब्दों की नब्ज पकड़ना और फिर तरतीब से उन्हें एक धागे में पिरोना...। कहना कठिन है कि किस मोड़ पर। फिर मुझे ये चिन्ता भी होती है कि मैं बहुत अधिक कहती जाऊँगी।

मैं एक बार फिर जोर देना चाहूँगी कि हम इन स्थानों पर मेरी माँ की कहानियों द्वारा घूमें। मेरी माँ अपनी माँ के घर बहुत कम ही जा पाती थीं क्योंकि उनके अपने बहुत सारे बच्चे थे। अगर वो सुबह-सुबह घर से निकलती, तो जब तक वो पाँच नदियाँ पार कर अपने मायके पहुँचतीं, दिया-बाती का समय हो जाता। वो तीन-चार साल में एक बार जा पातीं और हर बार हम में से एक एक को उनके साथ जा पाने का मौका मिल जाता। शायद सबसे छोटे वालों को कभी मौका नहीं मिला। पर जो वर्णन हमने उनसे सुने, वो पलाश/टेसू के पत्ते, केपला के फूल...केपला शब्द की ध्वनि कितनी विस्मयपूर्ण है! अपने अन्तिम क्षणों में, मेरी माँ विस्मरण की वजह से या अपनी माँ के घर के बिछोह में पुकारती, ''कमला (उनकी बड़ी बहन) आओ, जा कर केपला के फूल तोड़ लाओ ना...जल्दी लौटना...'' मैंने ये कारन्त को बतलाया तो वो बोले- ''हूँ... हाँ। ये है उस फूल की शक्ति, उस फूल के लिए लोग पहाड़ों में भटकते/घूमते हैं, अमूल्य निधि की तरह उसे सम्हालते हैं...। ये सब कुछ आपकी भीतरी परतों में छिपा रहता है; जैसे माया करती है... और यह कह करके कुछ क्षणों तक खामोश बैठे रहते।

लिखने का निश्चय दृढ़ता से प्रारूप ले रहा था। सारी अनिश्चितता खामोशी से बिखरती/दूर होती चली जा रही थी। मेरे मन में पुस्तक अपनी आकृति ग्रहण करती जा रही थी। ये वो काम नहीं था जो कारन्त मुझे 'डिक्टेट' करते। उन्होंने तो कहा था कि उनके लिए ऐसा सम्भव ही नहीं था। इस काम में उनकी ही पंक्तियाँ होनी चाहिए, उनके अपने ही मुहावरे और शैली में।

मैं चाहती थी कि वो महसूस करें, ''हाँ ये मेरे ही वाक्य हैं, मेरी ही आवाज, और ध्वनियाँ तक मेरी ही...। मैंने ये जिम्मेदारी ले ली थी।

हालांकि प्रिज्म पब्लिकेशन ने शुरुआती खर्चों की व्यवस्था की थी, कुशी हरिदास भट्ट ने कहा, ''कारन्त थियेटर की दुनिया में, यक्षगान की दुनिया से गए थे'' और क्षेत्रीय लोककला संधान केन्द्र, उडुपि से एक फैलोशिप की व्यवस्था कर दी, जिसके परिणामस्वरूप मैंने प्रिज्म को उनका सारा पैसा लौटा दिया। ''हमने एक 'अच्छे कारण' के लिए पैसा दिया था। कृपया इसे वापस न करें।'' उन्होंने कहा और वापस भेज दिया।

कारन्त जो मुझसे हमेशा पूछते रहते थे कि मैं खर्चे कैसे पूरे करूँगी, फैलोशिप के बारे में जानकर निश्चिंत हुए। बहुत दुःख की बात ये थी कि फैलोशिप स्वीकृत होने के दो दिन बाद ही, कू.शी. हरिदास का देहावसान हो गया। अपनी अन्तिम साँस तक उन्हें कारन्त के प्रति प्रगाढ़ स्नेह रहा और इस पुस्तक को कार्यान्वित करने में मेरी मदद करते रहे। मैंने कारन्त को उनके अन्तिम शब्दों के बारे में बतलाया। कारन्त उन्हें गॉडफादर बुलाया करते थे। हरिदास भट्ट, उडुपी के सांस्कृतिक जीवन के पर्याय थे और किंचित ही आश्चर्य है कि कारन्त भी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित रहे। काम पूरा हो गया पर उसे देख पाने के लिए, हरिदास भट्ट यहाँ नहीं है।

अगर तब मुझे पता होता कि हम एक किताब पर काम करेंगे, तो शायद उन्हें रिकॉर्ड कर लेती। मैं उनकी इन सब यादों से जुड़ी बातें करती। मुझे हमेशा लगता, ये सब लोग कारन्त जी का हिस्सा थे। और 'रंगमंचीय घटनाएँ'। इन सब में काफी कुछ था। ये महज एक 'फिलॉसॉफिकल डेलिब्रेशन' है।

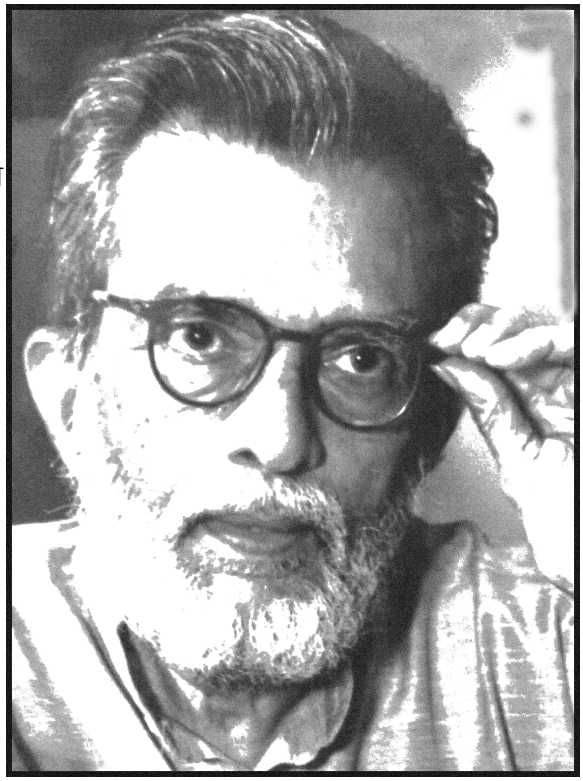

घर पर, उनके गाँव में, बैंगलूरू में और उन दिनों जब हम फिल्में देख रहे थे, कैसेट्स की कुल संख्या हुई-तीस। रंगमंच पर एक इण्टरव्यू के लिए मैंने निर्देशक रघुनन्दन की मदद ली। इसके अतिरिक्त मैंने उनके खास मित्रों से बातचीत, कारन्त की बनारस व जेल डायरियों का अनुवाद करवा कर, पुस्तक की आवश्यकतानुसार उसकी पुनर्रचना की। अक्षरा से कुछ पत्र प्राप्त किये, उनके भाषणों को जमा करके उन्हें सुना और सन्दर्भों के नोट्स बनाये और फिर उन सब सन्दर्भों का अध्ययन किया। उनके निबन्ध व साक्षात्कार पढ़े-काम चलता गया, सामग्री जमा करते हुए परोक्ष और अपरोक्ष रूप से। एक पोस्ट ग्रेजुएट विद्यार्थी ने सारे टेपस् को लिपिबद्ध किया। मेरा आधा कार्य हो चुका था। इसी दौरान मेरा एक और भाई कैन्सर की भेंट चढ़ गया। शिमोग्गा में एक और नजदीकी रिश्तेदार चल बसे और एक प्रियजन गम्भीर बीमारी से जूझ रहे थे। मैं अपनी आँखें दुनिया के लिए खोल ही नहीं पा रही थी। पर धीरे-धीरे मैंने अपने को खोला उस लिपिबद्ध कार्य को देखने के लिए और वहाँ क्या था?

बेचारी लड़की, कारन्त की बात करने की शैली को समझ नहीं पाई। उसने बातचीत के बड़े-बड़े टुकड़े निकाल दिए, और उनके स्थान पर अपनी ओर से लिख दिया। क्या मैं उसे इस काम के लिए जिम्मेदार ठहरा सकती थी? वो एक भरोसेमंद लड़की थी, पर वो ये स्वीकार नहीं कर पायी कि वो समझ नहीं पायी। शायद उसे ये आत्मसम्मान से जुड़ा प्रश्न लगा! मैं अपनी तरफ से ये सोचकर कि वो पोस्ट ग्रेजुएट है और उस पर पूरी तरह से भरोसा किया जा सकता है, अपनी दुनिया में डूब गयी...। अगर हीं समझ में नहीं आए तो पूछ लेना... ठीक है? मैंने कहा ''जी अवश्य'' उसने उत्तर दिया और एक दिन वो अपना काम समाप्त कर चली गयीं।

अब मैं क्या करूँ?

मुझे फिर सारे टेप्स सुनकर सब कुछ सुधारना था। मुझे खाली स्थान भरने थे। कई स्थानों पर मुझे लम्बे-लम्बे हिस्से, पूरे लिखने था। ...मुझे लिखने थे मौन, विस्मय, आह,हँसी और असम्बद्ध शब्द... और फिर सबको कारन्त को दिखलाना था, स्वीकृति लेनी थी।

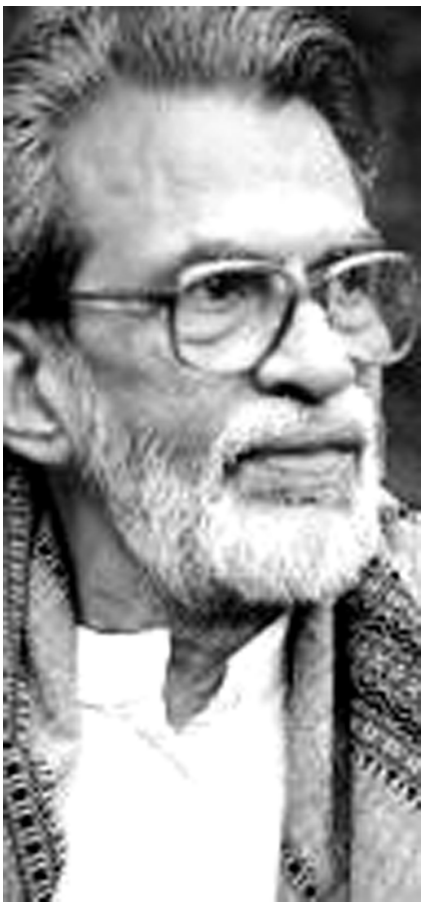

अध्याय दर अध्याय

'मैं तुम्हें बहुत तकलीफ दे रहा हूँ ना? तुम कैसे इतना सब लिखोगी?' और फिर वो एकाएक मुरझा से जाते। कई बार ऐसा भी होता कि वो किताब को पूरी तरह भूल जाते और कोई बिलकुल नई बात करने लगते। बाद में दुखी होते कि उन्होंने पूरा दिन बर्बाद कर दिया। मैं फिर से पढ़ना शुरू करती। फिर से विराम आता। 'मैंने ऐसा कहा? नहीं-नहीं यह ऐसा नहीं है।' कैसेट बजा कर उन्हें सुनाया जाता। वो आश्चर्यचकित रह जाते। 'ये सब मेरी इंप्रोवाइजेशन के प्रति की वजह से है।' वो फिर से शुरू करते और गहराई दर गहराई उतरते जाते, जब तक उन्हें ये नहीं लगता कि वो जो कह रहे हैं, वो बिलकुल ठीक है, वो कहते ही जाते थे। 'अच्छा अब तो ये फाइनल हो गया ना? कि नहीं? थोड़ा और इंप्रोवाइजेशन?' हम हँसते। पर वो भी फाइनल नहीं होता। 'इसमें थोड़ा सा और है।... मुझे अब याद आया।' (उदाहरण के लइए कुक्राबेट्टु के दिन।) मेरे ख्याल से ऐसा ही होता है जब आप अपनी कहानी सुनाना शुरू करते हैं। यादों के मूल तक पहुँचना बहुत मुश्किल होता है। कुछ यादें बस भाव होती हैं, कुछ बातें भुला दी गई होती हैं, पर फिर भी आप कुछ सतह पर ले ही आते हैं। दुख होता है, खुशी होती है, जैसे-जैसे आप गहराई में उतरते जाते हैं और जब आप वर्णन कर रहे होते हैं, तो अचानक पर्दे उठा देने का साहस आ जाता है- ये धीमी प्रक्रिया है, है ना?

जब हम काम कर रहे थे तो कारन्त कर्नाटका से ही गायब हो गए। दिल्ली, गौहाटी... वो बहुत दूर-दूर की जगहों पर थे। अचानक कहीं से एक फोन आ जाता, जहाँ कहीं भी वो होते, मुझे याद आया, वो कहते, देखो कहीं तुम इसे पिरो सको? वो कहते हैं मैं कलम और कागज निकाल तेजी से उसे लिखती। मैं उन लोगों को जानती नहीं, न संदर्भ उन सारे कैसेट्स में मिल सकेगा? या उन नोट्स में जो मैंने बनाए थे? पर चाहे मैं पता लगा पाती या नहीं, वो मुझे हमारी अगली मुलाकात में ही स्पष्ट हो पाता। तब तक बस मैं उसे ठीक से लिख कर रख सकती थी। (जैसे सेठ बाबूलाल के घर में पाठ, टाइफाइड आदि।)

ढेर पर ढेर यादें। अगर ये पन्ने इसी तरह बढ़ते ही गए, तो क्या मैं सम्हाल पाऊँगी? क्या मुझमें काबिलियत है? जैसा मैंने पहले कहा, कारन्त का जीवन कोई खुशियों का समुंदर नहीं था, वो एक तूफानी समुद्र था। किसी समय इन उत्ताल तरंगों में तटस्थता होती, फिर वो अचानक कह उठते, 'क्या इसकी जरूरत है? क्यों? क्या लोग इसे पढ़ेंगे?'

कारन्त हमेशा कहते कि वो क्रमवार वर्णन नहीं कर सकते। 'मुझे एक बार में पूरी बातें याद ही नहीं आतीं, मैं क्या करूँ?' वो बेचैन लगने लगते। 'ऐसा कैसे होता है? क्या दिमाग एक टेपरिकॉर्डर है? कि आपने बटन दबाया और शुरू हो गया?' 'आप जैसे कहना चाहते हैं कहिये। लिखने का काम मुझ पर छोड़ दीजिए।' मैं कहती, पर मन में भय के साथ, ढेर पर ढेर यादें। अगर ये पन्ने इसी तरह बढ़ते ही गए, तो क्या मैं सम्हाल पाऊँगी? क्या मुझमें काबिलियत है? जैसा मैंने पहले कहा, कारन्त का जीवन कोई खुशियों का समुंदर नहीं था, वो एक तूफानी समुद्र था। किसी समय इन उत्ताल तरंगों में तटस्थता होती, फिर वो अचानक कह उठते, 'क्या इसकी जरूरत है? क्यों? क्या लोग इसे पढ़ेंगे?' वो सशंकित हो जाते। कारन्त के जैसे व्यक्तित्व को भी अंत तक ये प्रश्न सालते रहे।

तीन साल गुजर गए। मैंने बार-बार उन्हें पढ़ कर सुनाया, सुधारा, जोड़ा और दोहराया। हर अध्याय के बाद, 'तुमने बहुत सटीक पकड़ा,' वो संतुष्टि और प्रशंसा के साथ कहते। इसे वो अपने जिस प्रिय मित्रों के साथ बाँटते, वो वापस मुझे बता देते। मुझे आगे बढ़ने की शक्ति मिलती रही। अंत में किताब जब पूर्ण होने के करीब आ गई, 250 पृष्ठ की हो गयी जो श्री रंगनाथन ने तय किये थे, वो बढ़कर 500 हो गए।

उन्होंने कहा था कि वो 4 पृष्ठ स्वयं अपनी प्रेमा के बारे में लिखेंगे। जब मैं 2002 अप्रैल में उनके घर गई, तो मैंने उनसे कहा, 'आपने अभी तक नहीं लिखा है, मुझसे कहिये, मैं लिखती जाती हूँ।' 'ये तो मुझे ही लिखना है।' उन्होंने जोर दिया। मैंने इंतजार किया। उन्होंने कहा वो खुद कुछ और करीबी लोगों के बारे में भी लिखेंगे। कारन्त बाहर जा रहे थे, उन्होंने वादा किया कि लौटते वक्त लेते आएंगे। उन्होंने कहा वो फोटोग्राफ भी तैयार रखेंगे। 'इतना कुछ है मैं खुद अकेले नहीं कर सकता। जब प्रेमा खाली होगी, उसके साथ मिलकर करूँगा।' उन्होंने कहा। वो भूमिका लिखेंगे ऐसा भी उन्होंने कहा। उन्होंने किया ये कि एक पुस्तिका में शुरू से अंत तक लिखा कि आत्मकथा का उनके लिये क्या अर्थ है? ये एकालाप की तरह था। (ये इल्लीरालाटे के नोट्स वाले भाग में छपा है।) उसे उन्होंने बैंगलोर पहुँचकर छोड़ दिया। अंत में उन्होंने उसे हा.सा.कृ. को डिक्टेट किया।

उन्होंने ज़िल्द पर हाथ फेरा और आँखें खोल कर कहा, 'मुझे पढ़कर सुनाओ। वो सो जाते और जब जागते तो पूछते कि क्या वो पूरे समय जागे रहे थे?' तुमने पढ़ना क्यों बंद कर दिया? वो अपनी कमज़ोर बेजान आवाज़ में बोले। कारन्त की अतुलनीय आवाज़ कहाँ चली गई? वो आवाज़ जो सैकड़ों ध्वनियाँ पैदा कर सकती थी?

अब हमें इसे एक नाम देना था। मैंने अक्षरा से पूछा? उसने सुझाव दिया, 'एन्नगु आने रंगा निनगु आने।' मुझे लगा कि वह कारन्त के स्वप्न को, इच्छाओं और पूरे जीवन को अपने में संजोता, सबसे सटीक नाम था। मैंने कारन्त से कहा, 'बहुत बढ़िया, यही रखते हैं।' उन्होंने जवाब दिया। (कारन्त की मृत्यु के बाद प्रेमा कारन्त ने इच्छा जताई कि ये इल्लारालारे अल्लिगे होगा लोर हो तो मैंने उसे परिवर्तित कर दिया।)

उनका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था। अगस्त के मध्य में कम्प्यूटर प्रिंटआउट लेकर उन्हें दिखलाने बैंगलूर गई। उन्होंने जिल्द पर हाथ फेरा और आँखें खोल कर कहा, 'मुझे पढ़कर सुनाओ। वो सो जाते और जब जागते तो पूछते कि क्या वो पूरे समय जागे रहे थे?' तुमने पढ़ना क्यों बंद कर दिया। वो अपनी कमजोर बेजान आवाज में बोले। कारन्त की अतुलनीय आवाज कहाँ चली गई? वो आवाज जो सैकड़ों ध्वनियाँ पैदा कर सकती थी? 'हारना नहीं, जीत के रहता।'

उनींदापन, जागरण, दर्द, कमजोरी... वो कुछ खा नहीं सकते थे। जो लोग पिछले कुछ समय में गुजर गये थे, मैंने उनके अंतिम दिन देखे थे। उनकी भूमिका पढ़ी जो प्रेमा के साथ थी। उन्हें दोहराव के बारे में बतलाया। 'दोहराव निकाल दो,' उन्होंने कहा (मैं निकाल सकती थी पर क्यों कि वो नहीं थे, मैंने उसे ही रहने दिया।)

जाने से पहले मैंने कहा, 'मैं चलती हूँ।' और उनके पैर छुए। 'शुभकामनाएँ, अगली बार कब आओगी?' उसी फीकी आवाज में पूछा। हमेशा की तरह मेरे आदर के प्रत्युत्तर में हाथ जोड़े पर इस बार उनकी उंगलियाँ पास नहीं आ सकीं। कमजोर और मुड़ी हुई, वो मुश्किल से आपस में एक दूसरे को छू पा रही थीं। मैं वहाँ और खड़ी नहीं रह पाई।

मनोहर ग्रंथमाले एक वॉल्युम/पुस्तक छापने जा रहे थे, 'रंगमंचीय व्यक्तित्व : बी.वी. कारन्त।' जब समीर जोशी ने कारन्त के बाल नाटकों पर निबंध लिखने के लिये मुझसे पूछा तो मैंने उत्तर दिया कि मैं इसकी काबलियत/पात्रता नहीं रखती। उन्होंने मुझसे कारन्त के विषय में कुछ और लिखने के लिए इच्छा प्रकट की। मैंने यह लिखना शुरू किया। इस प्रक्रिया में ये सब रचा गया। संक्षेप में ये कि मैंने अपनी सीमाओं में, उनके व्यक्तित्व को लिपिबद्ध करने की चेष्टा/कोशिश की है। मुझे हमेशा ये लगता रहा कि कारन्त का कोई करीबी अगर बहुत पहले से उनके अनुभवों को रिकार्ड कर रहा होता तो ये कार्य अद्‌भुत होता। खैर, ये फिर वही अगर-मगर की यात्रा है। मुझे खुशी है कि मैं कम से कम इतना कर पाई। मैं संतुष्ट महसूस करती हूँ।

रंगमंच ने मुझे महान बनाया

मृणालिनी साराभाई

प्रत्येक मनुष्य एक स्वप्न लिए हुए जन्म लेता है, कुछ लोग उसे अभिज्ञात कर लेते हैं, कुछ लोग उससे अवगत होते हैं तो कुछ उसे कतई नहीं जानते। जिस क्षण मुझे अस्तित्व का ज्ञान हुआ उसी क्षण से मैंने नृत्य को अपना जीवन मान लिया। उसने मेरे अस्तित्व की संपूर्ण चेतना को आकार दिया और प्रथम क्षण के पश्चात् आगे वह कभी नहीं बदला, क्योंकि वह मेरे हृदय, मन और अंतरात्मा की एक मात्र दिशा थी। आज तक वह मेरे प्रबोध की स्थिति, देवत्व का निकटतम अनुभव रहा है। किन्तु नृत्य को पाना आसान काम नहीं था। परिपूर्णता या सिद्धि के प्रति मेरी तीव्र लालसा ने ही मेरा मार्गदर्शन किया।

मेरा जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जो कलाओं को बहुत महत्व नहीं देता था। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में इन 'प्रदर्शन-कलाओं' की विरासत उन परिवारों को मिली, जो मेरे परिवार से भिन्न प्रकृति के थे। देवदासियां थीं, जो मंदिरों में भरतनाट्यम की परंपरा को कायम रखे थीं। कथकली नर्तक भी थे जो विशेष उत्सवों पर हमारे प्रांगण में नृत्य किया करते थे, किन्तु घर में कभी भी प्रवेश नहीं करते थे। यद्यपि रुक्मिणी देवी अरूण्डेल ने सार्वजनिक रूप से स्वयं नृत्य-प्रदर्शन कर और अड्यार, मद्रास में थियोसाफिकल सोसायटी में 'कलाक्षेत्र' की स्थापना करके एक नये वातावरण का निर्माण करना आरंभ कर दिया था, फिर भी नर्तकों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। उसके साथ कुछ विद्वानों ने नृत्य को समाज में उचित स्थान दिलाने और उनकी सौंदर्यात्मक गुणवत्ता को वापस लाने का कार्य अपने हाथों में लिया। अनेक वर्षों बाद गुजरात में मुझे इसी समस्या का सामना करना पड़ा। मेरे प्रथम गुरु मुथुकुमार ताता का साक्षात्कार मेरे लिए वरदान था, क्योंकि उन्होंने मुझे ढूँढ निकाला और मेरी इच्छा की तीव्रता को पहचाना। धीरे-धीरे उन्होंने अपने अन्य सभी छात्रों को छोड़ दिया और मुझे पढ़ाने के लिए रोज मेरे घर आने लगे।

शरीर नर्तक का उपकरण है और इसलिए शरीर को सुदृढ़ होना चाहिए। मैं एक दुबली-पतली बच्ची थी और यह एक चमत्कार ही था कि लंबे और थका देने वाले अभ्यास से मैं कमजोर नहीं हुई। किन्तु अपने प्रति निष्ठावान होने से, अस्तित्व के अर्थ के निकट आ जाने से हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति जाग उठती है, जो सामर्थ्य की सभी सीमाओं के परे चली जाती है। वह एक नशा था, अंगसंचलन की स्वतंत्रता थी, हालांकि स्वतंत्रता शब्द का जो सामान्य अर्थ होता है उस अर्थ में वह स्वतंत्रता नहीं थी, विस्मृत आयामों का पुनरान्वेषण प्रतीत होती थी। मैं तो केवल यही जानती थी कि अतिशय शारीरिक पीड़ा के बावजूद वह आनंद था। इस बीच संकट उपस्थित हो गया क्योंकि मेरा स्वास्थ्य खराब हो गया। संभवतः पहली बार मेरी माताजी ने इस वास्तविकता को महसूस किया कि उनकी सबसे छोटी बच्ची गंभीर रूप से बीमार है, क्योंकि डॉक्टर ने तपेदिक की बीमारी बता दी थी।

अकस्मात् सब कुछ बदल गया। मैं स्विट्ज़रलैण्ड में एक स्कूल में थी, एक अजनबी माहौल में खोयी हुई एकांकी एकमात्र भारतीय लड़की। एकाकीपन से मेरा जीवन भर का नाता रहा है और नृत्य वास्तविकता थी। स्विट्ज़रलैण्ड में मेरे लिए कुछ भी नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे मैंने मित्र बना लिए और उनसे भारत के बारे में बातें होने लगीं। किन्तु कक्षाएं फिर भी ऊबाऊ थीं और लैटिन भाषा में महारत हासिल करना तो मुझे असंभव जान पड़ता था। पर जलवायु बहुत सुखद थी और पहाड़ी पर खिलने वाले फूलों को देखकर मैंने पहली बार विशुद्धतः दैहिक उल्लास का अनुभव किया। प्रकृति के विविध रूप, हिमपात, नरगिस के फूलों की महक, जैनशियन फूलों का नीलापन आदि चीजें नशा-सा ला देती थीं। शीघ्र ही मैं स्कीइंग और स्केटिंग करने लगी और बचपन के निर्मल आनंद का उपभोग करने लगी। डॉक्टरों ने देखा कि मुझ में कोई गड़बड़ी नहीं है और उन्होंने मुझे नृत्य करने की इजाजत दे दी। मेरे लिए इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि वह नृत्य बैले था या वह जिसे 'ग्रीक' कहा जाता था। वह नृत्य था, मेरे लिए इतना ही महत्वपूर्ण था। यहाँ भी शिक्षक ने मेरी लालसा की तीव्रता को पहचाना और शीघ्र ही सभी सोलो मुझसे कराये जाने लगे। मैंने तकनीक अधिक नहीं सीखी, क्योंकि आखिरकार हम स्कूली लड़कियां ही थीं। किन्तु ग्रीक नृत्य ने मुझ इच्छानुसार किसी भी ओर संचलन करने, आकाश में उड़ने या धरती की आवाजों को सुनने की स्वतंत्रता दी। यह उस अद्भुत अनुभूति की शुरुआत थी जो दूरियों के सम होने, नृत्य की शक्ति की अन्तर्दृष्टि, ब्रह्माण्ड के प्रति पूर्ण समर्पण की विनम्रता से पैदा होती है। संभवतः वह मेरी स्वयं की रचनाशीलता का सहज तात्विक प्रारंभ था। क्या मैं इसी के लिए स्विट्ज़रलैण्ड गई थी? जब मैं लौटकर देखती हूँ तो अब मैं महसूस करती हूं कि वह मेरे जीवन के लिए आवश्यक पार्श्वपटल था। उस समय मेरा मन विद्रोह कर उठता था, मैं रो पड़ती थी, मैं स्वयं अपने और देश के बीच के फासले से नफरत करती थी। किन्तु उसके बाद से विश्व मेरा घर हो गया भले ही भारत आज भी मेरी मातृभूमि है, मेरी दृष्टि उससे भी आगे चली जाती है। जब मेरा मन बोझिल हो उठता है और दुःख असहनीय हो जाता है तो मैं किसी पहाड़ पर चढ़ जाती हूँ और जैन्शियनों की नीली-नीली क्यारियों को देखा करती हूँ।

स्वदेश लौटने पर मद्रास में मेरा मन अशांत रहा। वह निर्णय करने का समय था, क्योंकि एक बार स्कूल से निकल आने पर कालेज ही अपरिहार्य उत्तर था। जब मेरे नृत्य पाठ चला करते तो मैं बिल्कुल ठीक रहा करती थी किन्तु शरद ऋतु की गर्म चिपचिपी रातों में मैं विवशता सी महसूस करती। घर पर ऐसा कोई भी नहीं था जिसके साथ मैं बात कर सकती, जिससे मैं अपने मन की बात कह सकती, कोई मित्र भी नहीं, मेरा मन अंधेरे में कुछ टटोल रहा था और मैं अपने सामने एक ऐसे अस्तित्व को देख रही थी जिसका कोई हल नहीं था, हिन्दू धर्म में हम यह मानते हैं कि जीवन तीन सिद्धांतों द्वारा नियमित होता है और देव का चरित्र कोई नहीं जानता।

मेरे जीवन की यह रूपरेखा रही है जब मैं कार्य करती हूँ, तो कठोर परिश्रम करती हूँ, अच्छी योजना बनाती हूँ, विश्लेषणात्मक बुद्धि और तर्क-शक्ति का उपयोग रखते हुए अपना प्रत्येक क्षण देती हूँ। मैं देव को एक चेतना मानती हूँ, चाहे उसे ईश्वर कहिए या नियति जो प्रत्येक अनुभव को पूर्णता प्रदान करती है। एक बहुत प्रचलित कहावत है कि मनुष्य कुछ चाहता है, ईश्वर करता कुछ और ही है। पर इसके सच होते हुए भी इन्सान को इच्छा जरूर रखनी चाहिए, और सत्य के जीवन को पाने का भरपूर प्रयास करना चाहिए। जीवन में हाथ पर हाथ धरे बैठा नहीं रहा जा सकता क्योंकि वह मृत्यु होगी। जीवन में कुछ भी क्यों न घटता रहे जीवन रुकता नहीं। आदमी को निष्ठा के साथ काम करते रहना होगा और अपने अनुभवों को भावनाओं और विचारों में बदलते और अपने अनुभव दूसरों को देते हुए आगे बढ़ना होगा। इन भावात्मक अनुभवों में से अनेक मेरे लिए धारणा बन गए, जिन्हें मैंने नृत्य में ढाला और इस तरह सार्वलौकिकता प्राप्त कर ली। कदाचित् अनुभवों को बांटने का यही मेरा तरीका है। यही एक सर्जना-शक्ति और प्रतीक बन कर जीवनचर्या के रूप में प्रत्येक व्यक्ति की निष्ठा और लगन का सौन्दर्य-बोधात्मक रूप बनती है।

जीवन में हाथ पर हाथ धरे बैठा नहीं रहा जा सकता क्योंकि वह मृत्यु होगी। जीवन में कुछ भी क्यों न घटता रहे जीवन रुकता नहीं। आदमी को निष्ठा के साथ काम करते रहना होगा।

शांति निकेतन में

किसी ने मुझे सुझाया कि मैं शांतिनिकेतन जाऊँ। वह दैव था, अप्रत्याशित था। मैंने तत्काल स्वीकार कर लिया। मेरी माताजी मेरे साथ गईं और जिस पहले व्यक्ति से मेरी मुलाकात हुई, वह थी नंदिता कृपलानी-रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पौत्री, जिन्हें हम बड़ी दी कहा करते थे। वे एक ज्योति-शिखा की भाँति थीं। उनकी आँखें काली और चमकीली थीं। वे मुझे आज भी वैसी की वैसी ही याद हैं, यहाँ तक कि उनकी कच्छी चोली और पीली साड़ी के ब्यौरे तक मुझे याद हैं। ऐसा लगता था कि मैं देखते ही उन्हें जानने और चाहने लगी थी। उन्होंने भी मेरे प्रेम का प्रत्युत्तर दिया और मुझे ममता दी। उनके साथ मैं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन करने गई। वे अपनी मिट्टी की छोटी कुटिया में कुर्सी पर बैठे थे। उनकी मुखमुद्रा इतनी सुंदर थी और उस पर इतना उदात्तभाव था और उनकी मुस्कुराहट इतनी मोहक थी कि मुझे ऐसा लगा कि मैं सचमुच अपने घर आई हूँ। 'आमादेर शांतिनिकेतन' हमारा दुलारा बन गया। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को मैं प्यार करने लगी। तड़के ही संगीत की ध्वनि सुनकर उठ जाती, केलु नायर और आमोबी सिंह की नृत्य कक्षाओं में जाती। अधिकांश पूर्वाभ्यास हर शाम गुरुदेव के पुत्र रथीदा तथा पुत्र वधू प्रोतिमादी के घर 'उत्तरायण' में हुआ करते थे। मेरे पहुंचने के तीसरे दिन गुरुदेव ने मुझे अपने पास बुलाया। उन्होंने सुन रखा था कि मैं नर्तकी हूँ। उन्होंने मुझसे नृत्य दिखाने के लिए कहा और मैंने नृत्य किया। मुझे चाण्डालिका की मुख्य भूमिका दी गई। गुरुदेव ने मुझसे कहा कि मैं अपने नृत्य की रचना स्वयं करूँ। मेरे लिए यह उनका एक बहुमूल्य उपहार था क्योंकि अपने अंतरतम में मैं रूपों के कंपनों को महसूस करती थी। जब मैंने मद्रास में सीखे भरतनाट्यम का सावधानीपूर्वक उपयोग करना शुरू किया तो धीमे-धीमे अपनी प्रत्येक भूमिका के साथ मेरा हौसला बढ़ता गया। गुरुदेव से प्रेरणा पाकर, शांति-निकेतन के सौंदर्य का रसपान कर, वहाँ रहने वाले महान और विनीत व्यक्तियों का सान्निध्य पाकर मैं अपने पिता की मृत्यु के गहरे शोक से उबर गयी। जिन-जिन व्यक्तियों ने मेरी सहायता की - बड़ी दी और उनके विलक्षण कृष्ण, जिनके सामने मैं अपने सारे भेद खोल दिया करती थी, पितृतुल्य, अनुकंपावान और अपरिमित प्रेम से परिपूर्ण गुरुदयाल मल्लिक, अपनी गहन प्रज्ञा और अपने चित्रों की गहराई लिए हुए नंदलाल बोस हमारे ''मास्टर मोशाय'' चमकती आँखों वाले और हास्य-विनोद करने वाले सुरेन दा (सुरेन रे), अपने चित्रों पर हमेशा दोहरे झुके हुए विनोद दा (विनोद बिहारी), हमारे लिए और अनेक दूसरे लोगों के लिए मधुर कंठ से गाने वाले शांति दा (शांतिदेव घोष), इन सबने जीवन के प्रति मेरी आस्था में नयी जान डाली - मेरे चेहरे पर खुशी की हँसी ला दी।

मुझे उनसे इतना प्यार मिला, जो मेरे विकास के लिए आवश्यक था, क्योंकि भीतर से मैं महसूस करती थी कि मैं बिल्कुल मुरझा गई हूँ। स्विट्जरलैण्ड ने मेरी किशोर काया को उन्मुक्त बनाकर मेरा स्वास्थ्य मुझे लौटाया था तो शांति निकेतन ने मेरी उस आत्मा को मुक्त कर दिया जो शैशव में बड़ी निर्ममता से कुचल दी गई थी। मैंने

अपने स्वभाव को समझना शुरू कर दिया था और अच्छी तरह जान गयी कि नृत्य में मैं क्या करना चाहती हूँ। मुझे प्रेम से प्रेम हो गया, और प्रेम के अनेक रूप थे। जब एक शाम मैंने गुरुदेव से कहा कि वे 'दि गार्डन' से मेरे लिए कुछ पढ़ें तो वे मुस्कुरा दिए और अपना हाथ मेरे सिर पर रखकर उन्होंने कहा, ''हाँ, यह तुम्हारी ही आयु के लिए है, जब कली फूल बनने के लिए खिलती है''।

सब कुछ जादू जैसा था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे सामने समस्याएँ नहीं थीं। फिर भी जब मैं पीछे मुड़कर देखती हूँ तो लगता है कि जादू ही शेष रह गया है और इसीलिए मैंने कभी भी पीछे लौटना नहीं चाहा और मैंने ऐसा करने के सभी निमंत्रणों को अस्वीकार कर दिया है, मेरे लिए गुरुदेव का शांतिनिकेतन हमेशा रहा- वह हमारा अपना है, हमारा दुलारा है।

सरहद पार

शांतिनिकेतन से न्यूयॉर्क एक सांस्कृतिक कूद थी, किन्तु मेरी माता जी ने और मैंने इसे धीरे-धीरे किया। पहले हम इण्डोनेशिया गए और मैंने पूछताछ की कि अच्छा नृत्य कहां मिलेगा। यह जिज्ञासा हमें जकार्ता ले गई। उस जमाने में केवल राजपरिवार के लोग नृत्य करते थे और सुल्तान के भाई उनके गुरु थे। मुझे कक्षाओं में सम्मिलित होने की अनुमति मिल गई। मैंने स्वयं को शीघ्र ही वहाँ के अनुकूल ढाल लिया क्योंकि वहाँ का नृत्य हमारी शास्त्रीय शैलियों की अपेक्षा सरल और धीमा था, गुरु पंगेरन तेद्जोकोएसुमो मुझसे बहुत प्रसन्न थे। मैं जावा की लड़की जैसे कपड़े पहनती थी और एक सुन्दरतम नर्तकी श्री निंग्दा मेरी सहेली बन गई थी। श्री और मैं एक साथ काम करते थे। मैं प्रत्येक पदन्यास में परिपूर्णता के लिए घण्टों समय व्यतीत किया करती थी। एक दिन मुझे बताया गया कि मुझे सुल्तान के सामने नृत्य करना है। पहली बार किसी विदेशी को राजा की उपस्थिति में राजकुमारियों के साथ नृत्य में भाग लेने के लिए कहा गया था। निश्चय ही मेरे गुरु ने ही सारी व्यवस्था की थी क्योंकि उन्हें मुझ पर गर्व था और वे मुझे चाहते थे। यह एक अद्भुत क्षण था। सुल्तान भी अभिभूत हो गये और उन्होंने मुझे बधाई दी।

पन्द्रह वर्ष बाद मैं अपनी मण्डली में लौट आई। जहाँ मैंने नृत्य किया था उस स्थान को पवित्र भूमि मानकर घेर दिया गया था। उस अवसर पर मेरे प्रमुख अतिथि थे पंगेरन तेद्जीकोएसुमो। श्री उनकी पुत्रवधू बन चुकी थी और बाद में मेरे पास भारत आई थीं।

न्यूयॉर्क हमारे पैरों के नीचे सितारों की कालीन की तरह बिछा था और उसी क्षण मुझे इस उद्दीपक स्पंदनशील शहर से प्रेम हो गया।

जापान में हमें एक विचित्र अनुभव हुआ। मेरी माताजी दुनिया भर की महिलाओं से पत्र-व्यवहार करती रही थीं। मदाम सनयात सेन भी उनमें से एक थीं। जापानी पुलिस को शायद इस बात का संदेह था कि हमारे पास गोपनीय दस्तावेज थे। इसलिए वे हमारे केबिन की तलाशी लेने हमारे अमरीकी जहाज पर आए। हमने कप्तान से बहुतेरा कहा- सुना किन्तु उसने कहा कि वह कुछ भी नहीं कर सकता। बहरहाल उन्हें कुछ भी नहीं मिला किन्तु वे वह उपन्यास अपने साथ ले गए जिसे मेरी माताजी पढ़ रही थीं। उपन्यास का नाम था ''दि थर्टी नाइन स्टेप्स'' जिसके लेखक थे जॉन बूचन। हो सकता है कि पुलिस वालों को वह उपन्यास संदेहजनक दस्तावेज जान पड़ा हो। किन्तु एक भारतीय व्यापारी की अमरीकी पत्नी थीं और बहुत शिक्षित तथा प्रबुद्ध महिला थीं। अब वे अपनी शैक्षणिक परियोजनाओं तथा बाटुमल फाउण्डेशन के कारण सुविख्यात हैं। वे हमें अपने सुन्दर घर ले गईं। उस शाम हम उस सुन्दर द्वीप की सैर करते रहे और मैंने पहली बार ''खिलते हुए सेरियस की शानदार रात'' देखी। डोल पाइनएपल फैक्टरी को देखकर जहाँ नलों से भी अनानास का रस बहता था, मुझे अमरीकी दक्षता का प्रथम साक्षात्कार हुआ। मैंने श्रीमती बाटुमल के घर पर एक नृत्य किया और चित्रकार प्रीतीश नियोगी से मेरी मुलाकात हुई, जो हवाई में अध्ययन कर रहे थे। विश्व में कहीं भी फूल इतने सुन्दर, इतने खुशबूदार और इतने विविध नहीं हैं जितने यहाँ हैं। एलेन बाटुमल एक ओजस्वी महिला थीं। जिन्दगी में और शैक्षणिक तथा भौतिक रूप में दूसरों की सहायता करने में उन्हें दिलचस्पी थी और उनका सान्निध्य सुखद था। यहाँ मैंने पहली बार रस चिकित्सा के बारे में जाना क्योंकि उन्होंने अंगूर-रस चिकित्सा के जरिए एक महिला के भयानक रोग का इलाज किया था। उसी समय से मैं सूर्य चिकित्सा के प्रति आकृष्ट रही हूं और आस्था-उपचार के अनुभव भी मुझे हुए हैं। हमारा वहाँ का काम खत्म हो गया और हम लॉस एन्जेल्स से होते हुए युनाइटेड स्टेट्स को पार करते हुए न्यूयॉर्क चले गए।

न्यूयॉर्क में ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों जैसे गगनचुंबी इमारतों ने मुझे विस्मित कर दिया। ऐसा लगता था कि हम किसी गहरी घाटी में रह रहे हैं और कुछ ही मिनटों में पहाड़ों की चोटियों पर जा पहुंचे हों- पहली ही शाम हमने ऐसा किया। हम कुछ ही मिनटों में एम्पायर एस्टेट बिल्डिंग की एक सौ दोवीं मंजिल पर जा पहुंचे। न्यूयॉर्क हमारे पैरों के नीचे सितारों की कालीन की तरह बिछा था और उसी क्षण मुझे इस उद्दीपक स्पंदनशील शहर से प्रेम हो गया। मैंने अपनी माताजी के साथ शिकागो जाने के बजाय, जहाँ वे शिक्षा के किसी पाठ्यक्रम में सम्मिलित होना चाहती थीं, इस शहर में छह महीने बिताने का संकल्प कर लिया।

अमेरिकन एकेडेमी ऑफ ड्रामेटिक आर्ट्स एक बहुत प्रतिष्ठित संस्था थी और हर कोई उसके अध्यापन-स्तर की

प्रशंसा करता था। मैं साक्षात्कार के लिए गई और मन ही मन प्रार्थना करती रही कि मुझे प्रवेश मिल जाए। मेरी प्रार्थना सुन ली गई, मुझे रोमियो एण्ड जूलियट में जूलियट की भूमिका दी गई। उन दिनों जूलियट की भूमिका मेरी प्रिय भूमिका थी, क्योंकि इस नायिका की कहानी रोमानी और दुःखांत थी। दूसरी भूमिकाएं भी पढ़ी गईं, किन्तु उन्होंने मुझे जूलियट के लिए ही स्वीकार किया।

आखिरकार यह वह भूमि है जहाँ महापुरुषों की यादें आज भी ताजा हैं। कौन-सा देश यह कह सकता है कि गांधी और टैगोर, अरविंद, रमण, विवेकानंद आदि जैसे महापुरुष वहाँ एक ही पीढ़ी में हुए हैं और न किसी अन्य देश ने शाश्वत सत्य के चरमत्व की प्राप्ति के लिए लालायित आत्मा के रहस्यों का उद्घाटन उस प्रकार किया है जैसे कि हमने किया है।

नियमित प्रदर्शनों के लिए मैंने एक नाटक चुना, जिसमें कैथरीन कार्नेल ने अभिनय किया था। वह एक जापानी राजकुमारी की कहानी थीं, जिसने एक अमरीकी नाविक से विवाह किया था और वे लोग न्यू इंग्लैण्ड के संकीर्ण समाज में रहने के लिए आए थे। नाटक में राजकुमारी के प्रति लोगों के भयावह पूर्वाग्रहों, घृणा और जातीय भावना को विशदता से चित्रित किया गया है। इन्टरनेशनल हाउस में मैं ठहरी थी, इसके बारे में मैंने अपने मित्रों से सुन रखा था। वे मुझे हार्लेम ले गए ताकि मैं वहाँ की दयनीय स्थिति देख सकूं। फिर भी न्यूयॉर्क में बहुत कुछ ऐसा था जिससे मुझे प्रेम था। ये चीजें थीं ब्राडवे में होने वाले नाटक, रॉकफेलर सेंटर में होने वाले स्केटिंग जैसे मनोरंजन और सर्वोपरि वे संग्रहालय, जिन्हें नायाब खूबी से संवारा और संभाला गया था।

बहुतेरा फुर्सत का समय मैं बुक स्टॉलों के चक्कर लगाने में गुजारा करती थी, जो कि आज भी मेरा शगल है। मैं कोई पुस्तक चुन लेती थी और अपने मामूली से जेब खर्च में से खरीदने के लिए भूखी भी रहती थी। एक महीने में एक पुस्तक खरीदना मेरा लक्ष्य था, किन्तु बहुधा जिस पुस्तक को मैं पसंद करती थी वह महंगी होती थी और फिर मुझे अधिक लंचों और डिनरों से वंचित रहना पड़ता था। छह महीने बीत गए और समय समाप्त हो गया। हम घर लौट रहे थे और मैं उत्तेजित थी। सभी स्थान अच्छे हैं, किन्तु मेरा शरीर भारत की मिट्टी से बना है। मुझे याद है कि एक बार मेरे पति विक्रम ने मुझे बताया था कि जब वे इस्राइल में थे तो वहाँ के लोग हवाईजहाज से उतरकर अपनी धरती को चूमते थे। जब हम विदेश यात्रा से लौटे तो हमने भी ऐसा ही महसूस किया। सभी समस्याओं, सारी गरीबी और हमारे जीवन की सारी कुण्ठाओं के बावजूद यहाँ एक अपरिमेय सौंदर्य है, एक गहरा ज्ञान है, एक सांस्कृतिक धरोहर है, जो और कहीं नहीं है।

आखिरकार यह वह भूमि है जहाँ महापुरुषों की यादें आज भी ताजा हैं। कौन-सा देश यह कह सकता है कि गांधी और टैगोर, अरविंद, रमण, विवेकानंद आदि जैसे महापुरुष वहाँ एक ही पीढ़ी में हुए हैं और न किसी अन्य देश ने शाश्वत सत्य के चरमत्व की प्राप्ति के लिए लालायित आत्मा के रहस्यों का उद्घाटन उस प्रकार किया है जैसे कि हमने किया है।

मिथ्या पश्चिमीपन, अनेक कला रूपों के विनाशक गुण की अधिकता के बावजूद हमारे देश में आज भी ऐसे लोग काफी हैं जो सांस्कृतिक दृष्टि से सजग हैं, आत्मिक दृष्टि से उन्नत हैं। अपने ऐसे ही लोगों से जीवन भर मेरा संबंध रहा है। एक बार जब नृत्य को अपनाने का निर्णय ले लिया गया और मेरी माँ को मेरे संकल्प पर विश्वास हो गया तो मैं घर आकर अपने गुरु से नृत्य सीखने लगी और वे अन्य गुरुओं का नाम सुझाते तो मैं उनके पास भी जाया करती थी। मैं भरतनाट्यम की आत्मा का अनुसंधान कर रही थी। इस नृत्य शैली को मैं सबसे अधिक चाहती थी। मैं प्रत्येक गुरु से वह चीज लेती थी जो वे मुझे उस शैली में दे सकते थे और मैं इस रूप के रहस्य को ढूंढा करती थी। अनेक वर्षों तक मैंने अठारह घण्टे प्रतिदिन अभ्यास किया, गांवों में रही, जो कुछ मिला खाया। इन सबने मुझे इतना मजबूत बना दिया कि बाद में सारे संसार में सारी रात उत्साहपूर्वक नृत्य प्रदर्शन करती रही। मैं बिना खाए, बिना सोए, बिना प्रिय पेय कॉफी लिए रह लेती हूँ। जब मैं रंगमंच पर होती हूँ तो मुझे लगता है कि मैं महान हूँ। रंगमंच से बाहर मुझे दिखावा करना पड़ता है कि मैं मजे में हूँ।

साल गुजर चुके हैं और जैसा कि हर किसी की जिन्दगी में होता है, इसलिए मैंने आत्मकथा लिखना शुरू कर दिया, किन्तु जैसे ही मैं कोई पन्ना लिखती हूँ तो वह जीवित हो उठता है और यादें मुझे फिर से उस जीवन में उलझा देती हैं। हर दिन एक नई वास्तविकता लेकर आता है। जब मैं नृत्य प्रदर्शन करती हूँ तो मुझे यह अनुभूति अधिकाधिक होती है कि हम इस महान ब्रह्माण्ड के अंश हैं। मैं नृत्य के माध्यम से इस चेतना की बात कहती हूँ। मैं विश्व को यह बताना चाहती हूँ कि हममें से हर कोई किस प्रकार एक-दूसरे का है और इस संबंध को संजोकर रखना चाहिए। मैं जानती हूँ कि ऐसे बहुत से लोग हैं जो इसे मानते हैं और यदि हम अपनी शक्तियों को एकत्र करें तो निश्चय ही एक ऐसी विश्व-चेतना का प्रादुर्भाव होगा, जो शांति और आपसी समझ में वस्तुतः विश्वास जागृत करेगी। आज जब कि भय के बादल पश्चिमी जगत के आकाश में मंडरा रहे हैं, पूर्व का ज्ञान हवाओं से उन्हें छितरा रहा है। जैसा कि गुरुदेव ने कहा है, यदि मैं ''जीवन के कमल-पत्र पर ओस का कण मात्र'' हूँ तो क्या मुझे परम आनंदपूर्वक सदैव नाचते रहना नहीं होगा?

नृत्य की ताल पर

श्रीराम परिहार

नृत्य के दो आदिम रूप हैं- तांडव और लास्य। तांडव कठोरता एवं पुरुषत्व की झलक लिये होता है। इसे पुरुष नृत्य माना गया है। इसी के समानान्तर लास्य है। स्वभावगत मधुरता की वजह से लास्य स्त्री का नृत्य कहलाया। तांडव शिव का एवं लास्य पार्वती का नृत्य है।

समय के सफे पर लिखी प्रकृति की कविता युगों तक अनबाँची रही। सूर्य चन्द्र ग्रहों एवं नक्षत्रों के बीच गोष्ठियों एवं बैठकें होती रहीं, परन्तु प्रकृति के अर्थ अनखुले ही रहे। प्रकृति के अर्थ खोलने के क्रम में शिव ने तांडव किया। उसे नृत्यमय बनाया। गति पाकर प्रकृति समय की सहयात्री बनकर अनजान किन्तु सुनिश्चित यात्रा पर चल पड़ी। बिना गतिशीलता के सृष्टि नहीं हो सकती। बिना सृष्टि के यह ब्रह्माण्ड परम सत्य की निस्सीम स्वतंत्रता मात्र बनकर रह गया होता। तांडव सृष्टि का पहला नृत्य है। अखिल ब्रह्मांड में शिव की स्थिति आकाश रूप में है। आकाश रूप में होने वाली सारी क्रियाओं का असर पृथ्वी और उसकी प्रकृति पर पड़ता है। धरती पर सृष्टि का सीधा-सीधा सम्बन्ध आकाश से है। दिगम्बर शिव के बौड़मपन पर प्रकृति सहम-सहम उठती है। और औघड़ स्वभाव से वरदान पाकर प्रकृति अपने प्रारंभिक दिनों में बाग-बाग हो उठी थी। इसी नृत्य से उसमें सरसराहट पैदा हुई और सृष्टि का अंकुरण हुआ था। शिव बड़े देव हो गये। महादेव बन गये।

वैसे सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा माने जाते हैं। सांख्य दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। प्रकृति और पुरुष मूल तत्व हैं। प्रकृति के तीनों गुण-सत्व, रज और तम जब तक साम्य अवस्था में रहते हैं, तब तक सृष्टि नहीं होती। प्रकृति, प्रकृति ही बनी रहती है। सत्व गुण निष्क्रिय है। वह किसी को दखल नहीं देता। बिना कोई बाधा मोल लिये बने-बनाये रस्ते पर चलता रहता है। गाय सतोगुणी जीव है। ज्ञानवान और देवता आदमी गऊ होते हैं। तमोगुण भी निष्क्रिय होता है। अज्ञानी व्यक्ति क्या करेगा? सबसे भले विमूढ़, जिन्हहिं न व्यापै जगत गति।' उसे तो संसार की कोई हरकत नहीं छू सकती। एकदम भोंट आदमी से किसी निर्माण की उम्मीद व्यर्थ है। उसका और भैंस का संविधान एक है। भसभस खा लेना। खूंटे से बँधे-बँधे हो सका तो दूध दे-देना और सुबह जंगल जाते नहीं बना तो शहर में बीच सड़क पर खड़े-खड़े बागुल करते रहना। लेकिन रजो गुण में सक्रियता है। वह चंचल होता है। घोड़ा सरीखा टापता रहता है। प्रकृति में व्याप्त रजोगुण अपनी चंचलता से सत्व और तमोगुणों में भी स्पंदन पैदा करता है उससे सृष्टि होती है। नृत्य में रजोगुण प्रधान है। उसमें गतिशीलता और थिरकन गुत्थम-गुत्था होकर आदमी की प्राकृतिकता को एक उल्लास-भरी सृजनधर्मी आकृति देती है। शिव तांडव करते हैं- प्रकृति में गति के लिए।

तांडव नृत्य का मूल प्रतिपाद्य सृजन है। सृष्टि की दो स्थितियाँ होती हैं- सर्ग और प्रतिसर्ग। सर्ग याने निर्माण और प्रतिसर्ग का अर्थ उपसंहार। उद्‌भव और समापन प्रत्येक वस्तु के तयशुदा बिन्दु हैं। सृष्टि के सर्ग और प्रतिसर्ग का भारतीय दर्शन में बहुत ही वैज्ञानिक विश्लेषण

है। सृष्टि के बनाव-बिखराव में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ही सब कुछ है। ये तृत्व क्रमशः उद्‌भूत हैं। लेकिन आकाश स्वयंभू है। आकाश मूल है। शिव आकाश रूप है। दिशाओं तक जटा फैलाये भुड़भस शिव विश्व के ओर-छोर में पसरे हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी जुड़ी है। शिव का तांडव करना इन पाँचों तत्वों में चैतन्यता पैदा करना है। ये सभी चैतन्य होकर समवेत होते हैं, तो नया जीवन आँखें खोलता है। यह सृष्टि का सर्ग सोपान है। प्रतिसर्ग की बखत इन तत्वों का अपने-अपने तरीके से गुम होना करुणा की जमीन पर भय के पौधे के अचानक उग आने सरीखा है। मृत्युंजय तब भी तांडव करते हैं और प्रलय होता है। महादेव यह सब करते हैं। नट की तरह कई-कई खेल करते हैं। खुद नाचते हैं तथा दुनिया को नचाते हैं। वे सबसे बड़े नट हैं और सर्वश्रेष्ठ नर्तक भी। इन सन्दर्भों में संसार ने उन्हें 'नटराज' कहा। वे समय की रास को अपने हाथों से पकड़े हुये सृष्टि की गाड़ी को हाँकते चले जा रहे हैं। काल को उन्होंने बाँध रखा है। वे महाकाल हैं।

नृत्य के दो आदिम रूप हैं- तांडव और लास्य। तांडव कठोरता एवं पुरुषत्व की झलक लिये होता है। इसे पुरुष नृत्य माना गया है। इसी के समानान्तर लास्य है। स्वभावगत मधुरता की वजह से लास्य स्त्री-नृत्य कहलाया। तांडव शिव का एवं लास्य पार्वती का नृत्य है। मयूर का नृत्य तांडव है। शिव और मयूर के नृत्य में कई दृष्टि से साम्य है। दोनों पुल्लिंग है। दोनों नीलकण्ठ हैं। दोनों नये सृजन के लिये नृत्य करते हैं। नाचते-नाचते मयूर की आँख से आसव ढुलकता है। मयूरी उसे चोंच में लेकर गुटक जाती है और उसकी कोख में एक नयी सृष्टि करवट लेने लगती है। इसका अर्थ यह नहीं कि तांडव नृत्य स्त्री और लास्य नृत्य पुरुष कर नहीं सकता।

नृत्य की ही रौ में थोड़े बहुत फासले पर होने वाली शारीरिक भंगिमा नृत्त है। नृत्य और 'नृत्त' दोनों ही सुकुमार होने पर लास्य और उद्धत होने पर 'तांडव' शब्द से पुकारे जाते हैं। ये नाट्य के उपकारक हैं। नाटक के बीच में अवान्तर पदार्थ का अभिनय करने में 'नृत्य' का और रसोत्तेजक होने से शोभा बढ़ाने के कार्य में 'नृत्त' का उपयोग किया जाता है। दोनों शब्द 'नृती' धातु से उत्पन्न हैं। नृत्य में अंगों के द्वारा अभिनय का बाहुल्य होता है, तथा यह भावाश्रित रहता है। ताल एवं लय पर आश्रित अभिनय से शून्य अंगों का शोभायुक्त संचालन नृत्त कहलाता है। नाट्यकर्ता 'नट' एवं नृत्यकर्ता 'नर्तक' होता है। नाट्य के न्तर्गत अभिनय एवं नृत्य दोनों का समावेश होने से नाटक के अभिनेता को नट कहा गया है। सृष्टि के सूत्रधार एवं तांडव कर्ता, दोनों ही अर्थों में शिव 'नटराज' हैं। व्योमकेशी शिव सब कुछ त्याग कर भी और निहायत कंगाल होकर भी ललित कलाओं में सम्पन्न है। उनके आदिम केन्द्र हैं। 'नृत्य' भावों के आधार पर किया जाने वाला अभिनय पूर्ण अंग संचालन होने के कारण सभ्य और शास्त्रीय परख वाले लोगों के पास ही रहा। 'नृत्त' देशीपन और ठेठपन के कारण लोक में चला गया। नृत्त की चर्चा होती है तो मुझे गाँव के भागीरथ मोठा की मिरधिंग पर पड़ती थाप सुनायी देती है। गंगाराम की मण्डली के गायन की लय सुनाई देती है। चकरघिन्नी नाचते हुए श्रीपत के पाँवों में बँधे घुँघरुओं की रुनझुन सुनाई देती है। शरद की ओस से नम होती रातों में भागीरथ मोठा की मिरधिंग (मृदंग) चार-चार गाँवों तक गमकती रहती है। मोठा निमाड़ में उम्र में बड़े को कहा जाता है। भागीरथ मंडली में सबसे ज्यादा उमरदार है। धीरे-धीरे उसका असली नाम पर्दे में चला गया और केवल मोठा कहने से ही वह पूरे गाँव में जाना जाने लगा। उसने किसी खैरागढ़ के कमरे में मृदंग और ढोलक बजाना नहीं सीखा। उसके पास लम्बी गुरू-परम्परा भी नहीं है। जिन्दगी के खुले विश्वविद्यालय में उसने यह सब पाया है। हरेक पर्व-उत्सव और तीज-त्यौहार उसे गुरू बनकर सिखाते रहे। दस-दस कोस की गरद में बसे गाँवों तक में उसकी मृदंग ने वाह-वाही पायी है। अच्छे-अच्छों ने मृदंग-ढोलक वादन में मोठा के सामने थोल बोला है और उनके हाथ लाफा पड़े।

मृत्युंजय तब भी तांडव करते हैं और प्रलय होता है। महादेव यह सब करते हैं। नट की तरह कई-कई खेल करते हैं। खुद नाचते हैं तथा दुनिया को नचाते हैं। वे सबसे बड़े नट हैं और सर्वश्रेष्ठ नर्तक भी। इन सन्दर्भों में संसार ने उन्हें 'नटराज' कहा।

मोठा की मृदंग की ताल और गंगाराम की गुवालनी की लय पर श्रीपत के पाँवों की थिरकन में गाँव की आँखें और मन बँध-बँध जाता है। रात के निचाट पहरों में करवट बदलते किसी की आँख खुल गयी और गाँव की गली के किसी ठौर पर यह बेसुर का साज सुनायी पड़ गया तो समझो नींद उचट गयी। फिर आदमी नृत्त की इस पहाड़ी नदी में बिना नहाये नहीं रहेगा। कभी-कभी तो मृदंग की ताल बदल-बदल कर लगातार आधा-आधा घंटे तक मोठा श्रीपत को नाच में छकाता रहता। पर बंदा श्रीपत भी क्या मजाल कि जरा-सा भी चूक जाये। मैंने देखा-बेढप का भी ढप होता है। भाव-शून्य अंगों की भी एक भंगिमा होती है। श्रीपत के नाच के कोई नियम नहीं हैं, फिर भी सुर की टेर, मृदंग की ताल और नर्तक के रोम-रोम के स्फुरण में एक ताल-मेल है।

शिव के तांडव के सूत्र, समय की लम्बी यात्रा में श्रीपत पकड़े हुये हैं। शिव ने सृष्टि को नृत्यमय चैतन्य दिया। श्रीपत भारतीय जमीन को उसकी दरिद्रता में टणकी बनाता है। गरीबी, महँगाई और बखत-मारे लोग अपने-अपने कुल्या में गुड़ फोड़ते उदास हैं। आम आदमी की जीवन-सृष्टि की जड़ता से साँठ-गाँठ हो चुकी है। समय के गलत मंसूबे धारधार नाखूनों से जीवन को घायल करने पर तुले हैं। अभावों के कोंडवाडे में करोड़ों आदमियों को कोंडकर मुट्ठी भर सुविधाओं की धारा का पुला फेंक दिया जाता है। उदास चेहरों वाली आँखों के आसमान में अँधेरा और गहरा धँस जाता है। जड़ता पूरी ऐंठन के साथ बैठ जाती है। सृष्टि के प्रथम क्षणों में हृत्कम्पन हेतु शिव ने तांडव किया था और क्षण-दो-क्षण के लिए ही सही वर्तमान के खून में आग भरने के लिये श्रीपत नाच रहा है।

नृत्यांगना लता मुंशी से विनय उपाध्याय की लंबी बातचीत

उपेक्षा का दंश मेरी ऊर्जा बन गया

कला संस्कारी परिवार में जन्मी डॉ. लता सिंह मुंशी उत्तर भारत की उन गिनी-चुनी नृत्यांगनाओं में शुमार हैं जिनके रचनाशील व्यक्तित्व की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा कायम है। अपने नैसर्गिक कलात्मक रुझान का परिष्कार आपने गुरू परंपरा के तहत विधिवत तालीम और अभ्यास से किया। पहले कथक नृत्य शैली में डिप्लोमा प्राप्त किया और अस्सी के दशक में भरतनाट्यम की ओर आकर्षित होकर इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। डॉ. लता को भरतनाट्यम की सुविख्यात नृत्यांगना एवं गुरू लीला सेमसन के सान्निध्य का सुयोग हासिल हुआ। जिसके चलते उन्होंने भरतनाट्यम की कई आधारभूत बारीकियों तथा प्रदर्शनकारी खूबियों की समझ विकसित की। डॉ. लता करीब ढाई दशक से भरतनाट्यम की स्वतंत्र प्रस्तुतियाँ कर रही हैं और यह क्रम लगतार उनकी सांस्कृतिक यात्रा में बना हुआ है। नृत्य के साथ अभिनय में भी लता की रुचि रही है। आपने कई नृत्य संरचनाएँ की हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा इन्हें भरतनाट्यम में विशेष अध्ययन तथा शोध कार्य के लिए फैलोशिप प्रदान की गई। भरतनाट्यम के परंपरागत स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए लता ने कई नए प्रयोग किये हैं। भावों की गहरी अभिव्यक्ति और प्रदर्शन लालित्य उनके नृत्य की पहचान है। इन दिनों महारानी लक्ष्मीबाई कन्या महाविद्यालय भोपाल में बतौर प्राध्यापक नई पीढ़ी की शिष्याओं को भरतनाट्यम का प्रशिक्षण दे रही हैं।

'रंग संवाद' के लिए लतामुंशी का यह लंबा संवाद उनके कला जीवन की शुरुआत, दुश्वारियों, सपनों, उम्मीदों और सफलता के नए आसमानों की निगाह खोलता है। भोपाल स्थित कमला नगर में उनके आवास पर हुई इस रोचक बातचीत में कला आलोचक विनय उपाध्याय के साथ लताजी के कला अनुरागी पति श्याम मुंशी भी शरीक रहे।

विनय : आपकी देह में नृत्य है, मन में कला के प्रति प्रेम है, भीतर संवेदनशीलता है, जो आपको नृत्य और संगीत के माध्यम से बहुत दूर तक अभिव्यक्त करने के लिए उकसाते हैं। कब आपको महसूस हुआ?

लता मुंशी : विनय जी, मेरा नृत्य तब शुरू हो गया जब मैं यह सब सोचने-समझने की उम्र में ही नहीं थी। बहुत छोटी थी, तब कुछ ऐसी भाव-भंगिमाएँ करती रही होंगी, जिसे देखकर मेरे माता-पिता को लगा कि मेरी नृत्य में रुचि है या मैं नृत्य कर सकती हूँ। उन्होंने मुझे विधिवत शिक्षा के लिए प्रेरित किया। वो मेरे माता-पिता का बहुत बड़ा कदम था। उस वक्त, जब मैं समझती नहीं थी कि नृत्य क्या कला है? मुझे सिखाने के लिए विधिवत एक गुरु के पास ले गये और इस तरह मेरी नृत्य की शिक्षा शुरू हो गयी।

विनय : वो शख्सियत कौन है जिसे आपने पहला गुरु माना?

लता : हम लोग रीवा में थे। मेरे पिताजी सेण्ट्रल गवर्मेन्ट एम्पलोई थे। ट्रांसफरेबल जॉब था। घूमते रहते थे हिन्दुस्तान के अलग-अलग शहरों में। उस वक्त उनकी पोस्टिंग रीवा में थी। वहीं पर एक शारदाप्रसाद अग्रवाल नाम से एक गुरु थे, जो कोठी कम्पाउण्ड में क्लास लेते थे। वे कथक सिखाते थे। तो उनके पास मेरी शिक्षा कथक नृत्य से शुरू हुई।

विनय : कथक से आपने शुरू किया यह सफर लेकिन भरतनाट्यम की तरफ रुझान का कोई विशेष कारण?

लता : हाँ, कथक से शुरू हुआ। मेरे अन्दर की जो जिज्ञासा थी और नृत्य को लेकर जो एक उत्सुकता थी, वो शायद बहुत ज्यादा थी। मुझे लगता था कि समय के अनुसार जो गुरु लोग मुझे सिखाते थे, मुझे पर्याप्त नहीं लगता था। मुझे कुछ और ज्यादा सीखने की इच्छा थी। बहुत समय तक हम तत्कार करते रहे। हस्तक करते रहे, चक्कर करते रहे। ये सब चीजें बहुत जोश के साथ कई दिनों तक की। लेकिन मुझे एक समय के बाद इन चीजों से ऊब-सी होने लगी। मुझे समझ में आने लगा था कि अभिनय के प्रति बहुत रुझान है, और वह उस वक्त उठान नहीं पा रहा था। मेरे मन में बस विचार घर कर गया कि अभी भाव अभिव्यक्त करने के लिए कथक मेरे लिए पर्याप्त नहीं हो रहा है। उन्हीं दिनों भरतनाट्यम देखा। उसका पोश्चर देखा, उसके मूवमेन्ट्स देखे। खासतौर से उसमें शार्प मुद्राओं का प्रयोग मुझे बहुत लुभा गया। उसका सुदृढ़ पक्ष आकर्षक लगा। शायद इसकी वजह यह

भी हो सकती है कि उस उम्र का जो आकर्षण होता है- सुन्दर वेशभूषा, सुन्दर जेवर-गहने यानी खूबसूरती। एक विचार आया कि भरतनाट्यम में मेरी यह सब इच्छाएँ भी पूरी हो सकती हैं। सुन्दर नृत्य कला है और उस वक्त मैं सोचने-समझने लायक भी हो गयी थी। फिर मैंने अपने माता-पिता को अपने विचार व्यक्त किये कि मैं नृत्य तो जरूर करूँगी, लेकिन मैं भरतनाट्यम भी सीखना चाहती हूँ। यह बिल्कुल सच है कि मैं कथक छोड़ना नहीं चाहती थी। क्योंकि कथक की भी अपनी बहुत सारी खूबियाँ हैं, जिसे करते वक्त हम बहुत मजा लेते हैं। मन में यह था कि कथक और भरतनाट्यम, दोनों विधाओं को लेकर मैं साथ-साथ करती रहूँगी। और, यही विचार करके मैंने कथक के साथ-साथ भरतनाट्यम की शिक्षा लेना भी शुरू कर दिया।

विनय : ठीक है कि एक आकर्षण आपके मन में बना और आपने जैसा कहा कि आपकी अभिव्यक्ति की ताकत भरतनाट्यम के साथ ज्यादा जुड़ती है, तब भरतनाट्यम को भी उसके व्याकरण को, शैलीगत विशेषताओं को आत्मसात कर सम्भावनाएँ एक शैली के प्रति पूरी ताकत से बाहर आती हैं। इन सबको लेकर आपको निश्चित रूप से किसी बेहतर गुरु की तलाश तो रही होगी।

लता : जी, बहुत अच्छी बात कही। क्योंकि इस पर मैं बहुत विचार करती हूँ। मुझे ऐसा लगता है, आज से आप 25 साल पहले जाते हैं या 30 साल पहले इसके बारे में सोचते हैं तो आज के वातावरण और उस वातावरण में जमीन-आसमान का फर्क है। हम बहुत तेजी से बदले हैं। आज हमारे लिए दुनिया बहुत बड़ी नहीं है, छोटी-सी है और हम बहुत इज़ीली कहीं भी कान्टेक्ट करके कहीं भी एप्रोच कर लेते हैं। लेकिन आज से 25-30 साल पहले जब मैं यह विचार कर रही थी, तब इतना आसान नहीं था।

मुझे यह पता था कि भरतनाट्यम दक्षिण भारतीय नृत्य शैली है और निश्चित रूप से उत्तर भारत में मेरा रहना था, इसलिए यहाँ पर बहुत सुविधा उसके लिए मुझे नहीं मिलेगी। लेकिन मन में एक इच्छा थी सीखने की, तो सोचा कि चलो थोड़ा-बहुत ही सही उसके बारे में ज्ञान प्राप्त होगा। विनय साहब, शायद उस वक्त मैंने यह भी नहीं सोचा था कि नृत्य को क्या मैं एज ए प्रोफेशन पूरा जीवन समर्पित कर दूँगी। ऐसा बहुत ज्यादा कुछ विचार नहीं था। बस, एक जो शौक होता है, करने की अन्दर से ऊर्जा होती थी, जोर था बस करना है, करना है। इस वजह से करती चली गयी। मुझे सबसे पहले चूँकि हम भोपाल में थे और भोपाल में हमारे यहाँ जो गुरु हुए हैं- पंडित शंकर होम्बल जी- उन्हीं का नाम मुझे सबसे पहले पता चला और मैं सीधे उनके पास चली गयी कि मुझे भरतनाट्यम सीखना है। मेरी भरतनाट्यम नृत्य की शुरूआत वहाँ से हुई है।

विनय : यह तो आपकी शुरूआती दीक्षा-शिक्षा की बात हुई। कितने वर्ष तक आपने लगातार होम्बल जी के पास सीखा और पहला सार्वजनिक परफॉर्मेन्स जो आपका जो हुआ है, उसको लेकर क्या कौतूहल मन में रहा? जाहिर है कुछ बना ही होगा, आप कैसे जाएँगी, कैसे मंच पर पब्लिक को फेस करेंगी। वह जो शुरूआती कौतूहल मंच पर जाने का था, उसके बारे में कुछ सुनाइये।

लता : सन् 1976 में मेरी भरतनाट्यम नृत्य की शिक्षा शुरू हुई और गुरु शंकर होम्बल जी के पास तब से मैं रही। उसके बाद, भरतनाट्यम में जब पूरी शिक्षा हो जाती है तो एक अरंगट्रम होता है- मंच प्रवेश। मेरे गुरु ने कहा कि तुमने काफी कुछ सीख लिया है अरंगट्रम कर सकते हैं। अरंगट्रम के बारे में जो सुना है, जो पढ़ा है, जो देखा है, वो एक बहुत ही एक्साइनमेन्ट पैदा करने वाला अनुभव होता है। साउथ में तो उसको एक बड़े आयोजन जैसे एक लड़की की शादी होती है- उस तरह से किया जाता है। मुझे भी उसके प्रति बहुत ज्यादा एक्साइटमेन्ट था- अरे, ये अरंगट्रम होने वाला है, उसमें कम्प्लीट प्रोग्राम सिर्फ आपको करने को होता है।

सन् 1984 में, रवीन्द्र भवन में यह अरंगट्रम हुआ था। मेरे गुरु और सभी का तत्पर सहयोग था। एक्साइटमेन्ट सबको था। डर भी रहे थे कि पता नहीं क्या होगा? क्योंकि आपकी प्रोफेशनल फील्ड में वह शुरुआत है। सच कहूँ तो पहला अकेला सोलो प्रोग्राम भी कर रही थी। तो ईश्वर का शुक्र है कि बात बनी और गुरु का आशीर्वाद रहा। एक विचार आ गया कि- नहीं, मुझे तो पूरा जीवन नृत्य में ही लगाना है। वहाँ से शायद मैंने नृत्य को अपना लिया।

विनय : चलिये, यह तो पहली प्रस्तुति का अनुभव रहा, और उसके बाद जो आत्मविश्वास चुनौती पार करने के बाद आपने अर्जित किया, इसके बाद डॉ. लीला सेम्सन का भी सान्निध्य मिला। उनसे मिलने का क्या वाकया था? उनसे मिलने के बाद आपके पास जो शिक्षा-दीक्षा थी, जो कुछ भी आपने अर्जित किया था, उसमें क्या इज़ाफा हुआ?

लता : बहुत बड़ा टर्निंग प्वाइन्ट था। यह अरंगट्रम के बाद की ही बात है। तब मध्यप्रदेश शासन का एक 'घुँघरू फेस्टिवल' होता था युवा कलाकारों के लिए। 'घुँघरू' प्रोग्राम में मेरे परफॉर्मेन्स को देखने के बाद सबको लगा कि ये कर सकती है, अगर इनको प्रॉपर गाइडेन्स मिले। जो कुछ भी

"मेरे मन में विचार घर कर गया कि भाव अभिव्यक्त करने के लिए कथक मेरे लिए पर्याप्त नहीं हो रहा है। उन्हीं दिनों भरतनाट्यम देखा। उसका पोश्चर देखा, उसके मूवमेन्ट्स देखे। ख़ासतौर से उसमें शार्प मुद्राओं का प्रयोग मुझे बहुत लुभा गया। उसका सुदृढ़ पक्ष आकर्षक लगा। शायद इसकी वजह यह भी हो सकती है कि उस उम्र का जो आकर्षण होता है- सुन्दर वेशभूषा, सुन्दर जेवर-गहने यानी खूबसूरती। एक विचार आया कि भरतनाट्यम में मेरी यह सब इच्छाएँ भी पूरी हो सकती हैं।"

उन्होंने मेरे अन्दर देखा होगा और मुझे कहा गया कि आप इस नृत्य कला विधा को सीखने के लिए और थोड़ा अपना समय लगाइये, और मेहनत कीजिये। उसके लिए संस्कृति विभाग ने मुझे स्कॉलरशिप दी। गुरु भी उन्होंने तय किया। तब मैं लीला सेम्सन जी के बारे में बिल्कुल कुछ भी नहीं जानती थी। मैं बहुत विस्तृत रूप से बहुत सारे कलाकारों के बारे में जानती नहीं थी। सिर्फ पढ़ा-सुना, जो थोड़ा-बहुत दिमाग में ज्ञान था। बहुत ज्यादा मालूमात नहीं था।

मेरे गुरु उस वक्त लीला सेम्सन जी दिल्ली में थीं तो मेरे गुरु का कहना था कि अगर आप छात्रवृत्ति दे रहे हैं, इसको आगे की शिक्षा के लिए भेज रहे हैं, तो क्यों नहीं आप इसको चैन्नई भेजते हैं क्योंकि यह कला जिस जगह की है, वहाँ जाने से इसको और ज्यादा सीखने को मिलेगा। लेकिन यहाँ पर लोगों ने कहा कि आज हर दिन कलाओं में भी नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। उनका कहना यह था कि जो बेसिक होना चाहिए वह ये सब सीख चुकी है। आज के समय में भरतनाट्यम किस जगह पर है, किस स्थान पर है, उसमें क्या प्रयोग हो रहे हैं, क्या हो सकते हैं- ये सब समझने के लिए हम लोगों को लगता है कि इसे दिल्ली भेजना चाहिए। अन्ततः यही तय हुआ कि मैं लीला जी के पास जाऊँगी।

मैं अपने पिता के साथ दिल्ली पहुँची और बड़े डरते-डरते उस इंस्टीट्यूट में पहुँची, जहाँ लीला जी भरतनाट्यम की शिक्षा देती थीं। मैंने पहले उनको कभी देखा नहीं था। पहले तो लीला जी क्लास में थीं, तो वह हमसे मिली नहीं। हम लोग बाहर इन्तजार करते रहे। उसके बाद जब वह मिलीं तो उन्होंने बातचीत की। मैंने उनको बताया। पर मैं यह सोचती हूँ कि उन्हें इन बातों से कोई फर्क नहीं पड़ता कि हमें छात्रवृत्ति मिल रही है। गुरु के लिए भी बहुत पैसा सरकार दे रही थी, लेकिन उनके लिए पैसा-वैसा कोई मायने नहीं रखता। उनके लिए तो उनके विद्यार्थी, उनका काम। उन्होंने कहा कि मेरे पास तो सीट फुल हैं, मैं आपको एडमीशन नहीं दे सकती अपने पास। उनका पहला सेन्टेन्स सुनकर मेरा दिल जैसे बुझ गया- अरे, ये क्या हो गया। मुझे तो यह उम्मीद ही नहीं थी कि वे ऐसे मना भी कर सकती हैं। मैंने कहा- नहीं, मुझे तो स्कॉलरशिप मिली है और हमारा मध्यप्रदेश शासन आपको इसके लिए छात्रवृत्ति दे रहा है। उन्होंने कहा कि वो सब ठीक है। आप किसी और गुरु के पास चले जाइये, जहाँ जगह हो। होश उड़ गये थे मेरे। ऐसा लगा, जैसे आसमान से किसी ने मुझे फेंका और मैं जमीन पर आकर गिर गयी हूँ। इतना दुख अन्दर से कि कुछ समझ नहीं आ रहा था- क्या करूँ? मेरे पिता साथ थे, वह भी बड़े दुखी थे कि क्या करें और मैं बाहर आकर बैठक गयी। मुझे याद है कि सीढ़ियों पर बैठकर मैं बहुत रोई। मुझे लगा कि सारे सपने, सारी आशाएँ खत्म, क्योंकि वो तो मुझे अब सिखायेंगी नहीं, तो मैं कहाँ जाऊँगी, क्या होगा? वहीं बैठी रही मैं। पूरी क्लास खत्म होने के बाद जब छुट्टी हुई, लीला जी बाहर निकलीं, तो वहाँ सीढ़ियों पर मुझे बैठे हुए देखा। पता नहीं, उनके मन में क्या विचार आया? मुझे देखकर शायद वह कुछ समझ गयीं। बहुत ही संवेदनशील महिला हैं वो। रुक कर उन्होंने कहा कि ऐसा करो, तुम कल आना। बस इतना उनका कहना, अभी भी वो मुझे अनुभव हो रहा है। मेरे अन्दर आशा जगा दी। मैंने सोचा शायद कुछ हो जायेगा। दूसरे दिन सुबह से पहले वहाँ बैठ गयी कि आज कुछ फैसला होगा मेरे भाग्य का।

ऐसा लगा, जैसे आसमान से किसी ने मुझे फेंका और मैं ज़मीन पर आकर गिर गयी हूँ। इतना दुख अन्दर से कि कुछ समझ नहीं आ रहा था- क्या करूँ? पिता साथ थे, बड़े दुखी थे कि क्या करें और मैं बाहर आकर बैठ गयी। सीढ़ियों पर बैठकर मैं बहुत रोई। लगा कि सारे सपने, सारी आशाएँ खत्म, क्योंकि वो तो मुझे अब सिखायेंगी नहीं, तो मैं कहाँ जाऊँगी, क्या होगा? वहीं बैठी रही मैं। जब छुट्टी हुई, लीला जी बाहर निकलीं। सीढ़ियों पर मुझे बैठे हुए देखा। पता नहीं, उनके मन में क्या विचार आया? मुझे देखकर शायद वह सब कुछ समझ गयीं।

खैर, ईश्वर ने अच्छा फैसला किया। मतलब उनको जो भी लगा। मुझसे मिलीं, मुझसे बहुत सारी बातें कीं, जो नृत्य से संबंधित बिल्कुल नहीं थीं। जनरल बातें कर रही थीं वो मुझसे - मैं क्या हूँ, किस परिवार से हूँ, क्यों डांस सीखना चाहती हूँ, क्यों ये सब कर रही हूँ, क्यों दिल्ली आ गयी? वो सब स्पष्ट करने के बाद उन्होंने कहा कि अच्छा ठीक है, मैं कोशिश करती हूँ। उनका इतना कहना मेरे लिए बहुत था और वो कोशिश उनकी जो थी, मुझे पता नहीं चला। पर बाद में समझ में आया कि उन्होंने जब कह दिया कि मैं कोशिश करती हूँ तो निश्चित था। मेरा वहाँ प्रवेश हो गया, लेकिन मुझे रहने की कोई जगह नहीं थी। विनय साहब, एक सच बताऊँ, मैं बहुत ही मिडिल क्लास फैमिली से हूँ। मेरी पाँच बहनें, सब उस समय पढ़ाई कर रही थीं। बड़ी बहन डॉक्टर बन रही थीं, दूसरी सब बहनें पढ़ाई में लगी थीं। पिता अच्छी पोस्ट पर थे, लेकिन सरकारी नौकरी में थे, जहाँ पर आमदनी एक निश्चित होती है, तो उनके लिए हम सबकी व्यवस्था करना थोड़ा मुश्किल ही था। ऐसी स्थिति में जरा सा भी अहसास अगर उनको हो जाता या मैं कुछ बोल देती कि मुझे तकलीफ हो रही है, दिक्कत हो रही है, तो शायद वह मुझे वापस ले आते। तो मैं उन्हें कह नहीं सकती थी। मुझको सीखना था, चाहे कितनी तकलीफ क्यों न हो! दिल्ली में रहने के लिए जो प्रबन्ध किया गया, वह मेरे अपने इंस्टीट्यूट से बहुत दूर था और उस समय दिल्ली में जो बस सुविधा थी, बहुत अच्छी नहीं थी। मुझे बहुत मुश्किल होती थी और सुबह 9.00 बजे से हमारी क्लास शुरू हो जाती थी, तो मुझे 8.00 बजे निकल जाना होता था। इतना सख्त अनुशासन था कि 9.00 बजे के बाद काँटा यदि 1 सेकेण्ड के लिए भी सरक गया तो हमें प्रवेश की अनुमति ही नहीं। फिर आप बाहर बैठिये। बहुत सख्त। मैं डर तो बहुत गयी थी उनकी सख्त व्यवस्था देखकर। बहुत कोशिश करती थी कि गलत न हो जाये।

मुझे लगता है दर्शक भी हमेशा नयी चीज़ देखना चाहता है। जब मुझे रिस्पॉन्स मिला तो मेरे अन्दर थोड़ी-सी हिम्मत बढ़ी, नये प्रयोग करने का एक हौसला बढ़ा। मैंने पारम्परिक भरतनाट्यम की जो रचनायें हैं उनसे कुछ अलग हटकर बहुत सारी नयी बंदिशें तैयार कीं।

मैं लीला जी के बारे में एक बात जरूर कहूँ कि वो बहुत ही अच्छी नृत्यांगना हैं, उसके साथ-साथ वह बहुत अच्छी इंसान हैं। मुझे देखती थीं रोज, हर दिन मुझे कुछ समझती थीं। बीच में हमारे यहाँ लंच ब्रेक होता था, हमें खाना खाने की छुट्टी मिलती थी। एक-डेढ़ बजे तक हम लोग काम करते थे और दो बजे हम सबको ब्रेक मिलता था। सब अपने यहाँ खाना खाने चले जाते थे। लीला जी भी अपने घर चली जाती थीं। उनका घर पास में ही था। मेरे लिए यह सम्भव नहीं था कि मैं वापस अपने कमरे में जाऊँ और फिर वापस लौटूँ। मैं वहीं अपने इंस्टीट्यूट के बाहर ही चटाई पर बैठे अपना थोड़ा सा खा-पी कर आराम करती थी।

विनय सर, दिल्ली में मैं किसी के पास रह रही थी। मैं उनसे कैसे कहूँ कि मुझे खाना बनाकर दे दीजिये। उनके अपने परिवार के सिस्टम्स थे। हम ब्रेड सेक कर ले आते थे। वह दोपहर तक इतनी कड़क हो जाती थी कि उसको खाना मुश्किल हो जाता था। तो हम कभी पानी में डुबोकर, कभी किसी और तरह - मतलब बस पेट भर लेते थे। वो सब याद आता है तो मुझे तकलीफ होती है। मुझे यह याद है कि मेरे तालू छिल जाते थे ब्रेड की हार्डनेस से। मेरी सेहत गिरती चली गयी और मेहनत बहुत होती थी। 3.00 बजे से फिर सेकण्ड सेशन शुरू होता था रियाज का। वो हम लोग 7.00 बजे तक करते थे। एक दिन लीला जी ने मुझे कहा कि क्लास खत्म होने के बाद मुझे मिलो। मैं बहुत डर गयी थी कि कुछ हो गयी गड़बड़। उन्होंने एक शब्द कहा कि- तुम्हें कोई तकलीफ है यहाँ? मैंने कहा- नहीं, बिल्कुल नहीं। मुझे लगा कि वह मुझे वापस भेजने के लिए बात कर रही हैं। मैंने कहा- कोई तकलीफ नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूँ। तो बोलीं कि- कहीं मैंने महसूस किया है, जब तुम आयी थीं उसमें और आज में तुममें बहुत फर्क आ गया है। कुछ परेशानी है? उनका जो कहने का ढंग था या जिस तरह से उन्होंने मुझसे कहा, मैं फूट-फूट कर रो पड़ी और मुझे वहाँ पर अकेलापन तो लग ही रहा था, वहाँ कोई मेरा अपना नहीं था। वहाँ ऐसे कोई कन्धा नहीं था, जहाँ मैं अपने मन की बात कह सकूँ। कह कुछ भी नहीं पाई, बस रोती चली गयी। फिर उन्होंने मुझसे कहा कि तुम अपना सब सामान बाँधो, तैयारी करो। मुझे तो बहुत डर लग रहा था कि मुझे वापस भेज देंगी। उन्होंने दूसरे दिन मुझे एक फॉर्म लाकर दिया। मुझे लगा कि एडमीशन प्रोसेस तो सब हो चुका था, फॉर्म लेकर क्यों आई हैं। वह फॉर्म मैंने देखा था, 'हॉस्टल फार्म' था। उसमें 'लोकल गार्जियन' में उनका नाम था, सिग्नेचर थे। कहा- अपना सामान पैक करो, मैं गाड़ी भेजती हूँ। हॉस्टल की मेरी सारी फीस उन्होंने जमा की थी, सारी फॉरमेल्टीज हो गयी थीं और दूसरे दिन मैंने अपना सामान शिफ्ट कर लिया।

इतनी खुशी मुझे हॉस्टल जाने की नहीं, गार्जियन के सिग्नेचर मेरी आँख से हट नहीं रहे थे कि मेरी गुरु मेरी गार्जियन बन गयीं और मेरा सब कुछ अच्छा हो जायेगा, मैं सब कुछ कर सकती हूँ। और लीला जी जैसी एक पर्सनेल्टी से इतना करीब - एकदम करीब - जिनसे हम बात करने में डरते थे। उनके इतने करीब हो जाना, मुझे ऐसा लगा कि दुनिया मिल गई हो। दूसरे दिन अपने सामान के साथ हॉस्टल शिफ्ट हो गयी। उन्होंने सारी व्यवस्था कर दी, मैस की व्यवस्था कर दी। इस बीच जैसा सरकारी कामों में होता है, मेरी स्कॉलरशिप आई ही नहीं थी। काफी टाइम हो गया था।

विनय जी, मेरे पास तो बहुत पैसे थे भी नहीं। उन्होंने सारी व्यवस्था की। उसके बाद उन्होंने मुझसे कहा कि - किसी भी चीज की जरूरत हो घर आ जाया करो। तुम्हें जो भी चाहिए हो, तुम ले लेना। उस दिन उस दिन वो लीला जी लीला जी नहीं, मेरी भगवान हो गयीं, ईश्वर हो गयीं। और यह बात मैं आपको बताऊँ विनय जी, आज तो लीला जी उससे कहीं बहुत आगे निकल गयी हैं। आज जो उनकी स्थिति है, जो पॉजीशन है, शायद उनसे लोग मिल भी नहीं पाते हैं। आज भी जब मैं उनको छोटा-सा मैसेज भेजती हूँ, उनका जवाब आता है, उतनी ही गर्मजोशी से आता है।

श्याम मुंशी : मेरे सामने की बात है। एक दिन इन्होंने कहा कि मैं जाना चाहती हूँ- कला क्षेत्र में। लीलाजी वहाँ की डायरेक्टर हो गयी थीं। इन्होंने मैंने इनसे कहा कि बिल्कुल चली जाओ। जाना चाहती हो, बिल्कुल जाओ। तो कहने लगीं- पहले लीला जी से पूछ लूँ मैं, नहीं तो गड़बड़ हो जाएगी। मैंने कहा- हाँ, पूछ लो। मैंने उसी वक्त फोन लगाया। साउथ में अक्का का मतलब होता है दीदी। इन्होंने कहा- अक्का, मैं आपके पास आना चाहती हूँ मद्रास। तो उन्होंने कहा- अरे, तो उसमें पूछने की क्या बात है। तुम आ जाओ, फौरन आ जाओ। ये इतनी खुश हुईं। उन्होंने तो कह दिया जब तुम्हारा दिल चाहे, सौ बार आ जाओ। फिर इन्होंने उसी वक्त रिज़र्वेशन कराया अपना और यहाँ से मद्रास गयीं। मेरे ख्याल से एक हफ्ते वहाँ रहीं।

लता : विनय सर, आप सोचिये, कला क्षेत्र की डायरेक्टर। मैं क्या हूँ? मैं तो कुछ भी नहीं। धूल के बराबर भी नहीं हूँ उनके सामने। वो लेडी, जिनके पास बिल्कुल भी टाइम नहीं होता। इंस्टीट्यूट की गाड़ी कि लता परेशान मत हो जाना, यहाँ मद्रास में बहुत परेशान करते हैं। तुमको वो लूट लेंगे। इंस्टीट्यूट की गाड़ी उन्होंने रेलवे स्टेशन भेजी और मुझे लेकर ड्राइवर इंस्टीट्यूट गया लीला जी के सामने। और, वो एसी चैम्बर में थीं जैसे ही मैं अन्दर गयी, गले लगा लिया उन्होंने मुझे।

विनय : लता जी, यह निश्चित रूप से बहुत ही भावुक करने वाला प्रसंग आपने बताया और ऐसे बहुत कम सौभाग्यशाली शिष्य होते हैं जिनको ऐसा सच्चा गुरु अपने जीवन में मिल जाये। सच्चा गुरु ही तो दरअसल हमें सच्ची राहों की ओर आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देता है। यह एक संयोग कह लीजिये या आशीर्वाद कि आपको लीला सेम्सन जी जीवन के इस मुकाम पर मिलीं। गुरु की अच्छी तालीम और हमारे संस्कार, दरअसल ये सब मिलकर ही तो हमें अच्छा कलाकार बनाते हैं।

लेकिन इसके साथ-साथ ये सब प्राप्त करने के बाद जीवन में स्वतंत्र रूप से आप जब नृत्यांगना के रूप में अपने आपको स्टेबलिश करने के रास्ते पर आयीं, तब क्या चुनौतियाँ आपके सामने आयीं? एक कलाकार का स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का जो भाव मन में होता है कि मैं कई मंचों पर जाऊँ और मेरे अपने भीतर की जितनी भी अर्जित अब तक की कला की पूँजी है, उसकी सुगन्ध फैले या उससे और लोग भी लाभान्वित हों! जब रास्ता तय करने की बारी आयी, तो क्या आपको कोई चुनौतियों का सामना करना पड़ा या स्वतः आपके लिए रास्ते खुलते गये?

लता : नहीं। विनय साहब, बिल्कुल ऐसा नहीं हुआ कि रास्ते बनते चले गये। यह बिल्कुल सच है कि वह मेरे जीवन का बहुत ही टर्निंग प्वाइन्ट था, जिसने मुझे लीला जी जैसे गुरु से या इंसान से मिलवाया और तब जो मैंने डांस से सीखा उनसे, लेकिन बहुत सारी जिन्दगी में जीने की जोमहत्वपूर्ण बाते हैं। मैंने सीखीं उनसे। सिर्फ मैं उनको देखती थी, उनको समझने की कोशिश करती थी। तो मुझे लगा कि कला या कोई भी विद्या सीख जाता है आदमी। लेकिन असली बात है ज़िन्दगी जीने के लिए आपको कैसा इंसान होना चाहिए, वो बहुत मुश्किल होती है। वह बहुत मुश्किल से आता भी है - और वो मैंने लीला जी से सीखा। मुझे ऐसा लगता है कि वो जैसे एक कम्पलीट इंस्टीट्यूट हैं अपने आप में। उनका सिर्फ व्यवहार आप फॉलो कर लीजिये, बहुत कुछ आप बन जायेंगे। तो वह चीज मैंने सीखी और वो मेरे जीवन में आज भी काम आ रही है।

म.प्र. में माहौल नहीं था भरतनाट्यम का। माहौल से मेरा मतलब है म्यूजिशियन्स नहीं थे। संगीतकार अरेन्ज करना ही मेरे लिए बहुत बड़ी चुनौती थी। बहुत पैसा देना पड़ता था। मतलब ये सब संसाधन जुटाना मेरे लिए बहुत मुश्किल था। मैं बहुत अकेली भी थी।

जब मैं वहाँ से लौटकर आयी, तो अन्दर तक ताकत थी कि मैंने कुछ सीखा है किसी अच्छे गुरु के पास। उसका अन्दर से एक कान्फीडेन्स भी था। उनका एक बार कहना भी था मैं दिल्ली रुक जाऊँ और उनके साथ काम करूँ। लेकिन तब मुझे लगा कि नहीं मेरी कर्मभूमि, मेरा घर भोपाल है, मध्यप्रदेश है। जो कुछ भी मैंने सीखा है, इसके लिए सारा कार्य वहाँ करना चाहिए और मैं वापस लौटकर आ गयी। यहाँ पर कोई लीला जी नहीं थीं, जो मुझे सहयोग करतीं या अपने लेबल पर मुझे कुछ मदद करतीं। फिर यहाँ पर मैंने बिल्कुल ज़मीन से चलना शुरू किया और जैसा कि आमतौर पर सभी जगह होता है - अगर आपकी पहुँच हो या आपकी पारिवारिक पृष्ठभूमि ऐसी हो, जो आपको प्लेटफॉर्म दे दे या फिर आपकी कुछ एप्रोच ऐसी हो, आपके किन्हीं बड़े बड़े लोगों से कॉन्टेक्ट हों, या फिर आपके पास बहुत पैसा हो। और, इत्तेफाक से मेरे पास तीनों में से कोई भी चीज नहीं थी। मैं अपना पोर्ट फोलियो लेकर सभी दरवाजों पर जहाँ-जहाँ ऑर्गेनाइजर थे, जाती थी। रिक्वेस्ट करती थी कि मुझे प्रोग्राम मिले। क्योंकि सीख लेने के बाद अगर कलाकार को मंच नहीं मिले, तो कोई मतलब ही नहीं है। आपको यही नहीं पता कि आपका काम कैसा है?

दूसरा यह कि म.प्र. में माहौल नहीं था भरतनाट्यम को लेकर। माहौल से मेरा मतलब है म्यूजिशियन्स नहीं थे। म्यूजिशियन्स अरेन्ज करना ही मेरे लिए बहुत बड़ी चुनौती थी। बहुत पैसा देना पड़ता था। मतलब ये सब चीजें बहुत मुश्किल थीं मेरे लिए मैनेज करना और बहुत अकेली भी थी। समय लगा लोगों को समझने में कभी-कभी जब जिन्दगी सोचती हूँ तो मुझे आज इस मुकाम पर पहुँचाने के लिए जो मददगार हैं, वो मेरे गुरु हैं। यह बिल्कुल सच है। मेरे पहले गुरु शंकर होम्बल जी, जिन्होंने मुझे प्रारम्भिक शिक्षा - पूरी शिक्षा - दी। बहुत समय तक, बल्कि मैं दिल्ली से लौटकर आने के बाद तक उनके साथ जुड़ी रही और अन्त तक उनसे सीखती रही। मैंने उनसे सीखा, बहुत सीखा, उनका बहुत बड़ा योगदान है।

उन्होंने एक बात मुझे कही थी, जिसने मेरे अन्दर एक जिद पैदा की थी कि मुझे करना ही है। उन्होंने कहा था कि इतना आसान काम नहीं है ये और चूँकि तुम्हारी पारिवारिक पृष्ठभूमि कलाकार की नहीं है, तुम लोग शौकिया तौर से सीख रहे हो तो सीख तो लोगे, लेकिन कलाकार बनना तुम लोगों के लिए बहुत मुश्किल है। यह बिल्कुल निश्चित है कि पारिजाता, भारती, रुक्मिणी उनकी तीन बेटियाँ - मेरे साथ, मेरे ही बैच के साथ थीं। हम सब सीख रहे थे। ऐसा हुआ विनय साहब, कि होम्बल जी बहुत अच्छे गुरु थे, लेकिन वह उस दायरे से निकल नहीं पाये कि बेटी और शिष्या में फर्क होता है और वह स्ट्रांगली मैंने फेस किया। हमें कभी अच्छे परफॉर्मेन्स नहीं मिले। हमें कभी बहुत अच्छे कॉस्ट्यूम्स नहीं मिलते थे। हमें अच्छी ज्वैलरी नहीं मिलती थी। ये सब सिलेक्ट होने के बाद जो बचते थे, वह हम लोगों को कह दिया जाता था कि आप इसमें से ले लो। हमें कभी

अच्छे रोल नहीं मिल सकते थे, क्योंकि सब उनकी बेटियाँ कर रही थीं गुरुजी के अन्दर सब अच्छे गुण थे, लेकिन यह एक कमजोरी थी, इसको लेकर बहुत पजेसिव थे।

विनय : यह जो आपके साथ हुआ कि होम्बलजी अपनी फैमिली के साथ बड़े पजेसिव थे और ये थोड़ा-सा उपेक्षा का दंश जो आपके हिस्से आया, जाहिर है कि इस पीड़ा ने ही निश्चित रूप से बाहर कुछ और अपना क्षितिज विस्तृत करने के लिए आपको प्रेरित किया होगा?

लता : जी हाँ, मुझे लगता है कि शायद ये भी उनका एक तरीका हो सकता है मुझे कुछ बनाने के लिए, जो मेरे जीवन में काम आया। उनकी जो उपेक्षा थी, उसने मेरे अन्दर एक ज़िद पैदा कर दी।

श्याम मुंशी : यह आपका बड़प्पन है कि आप ऐसा सोचती हैं।

लता : गुरु, गुरु होता है। मुझे लगता है आज वो नहीं हैं, लेकिन जहाँ भी होंगे, मुझे देखकर जरूर खुश होंगे। हो सकता है कि उस वक्त उनको अपने परिवार के बच्चों के प्रति मोह माया होगी। आमतौर पर सबकी होती है। लेकिन अगर उनके काम को कोई कर रहा है, तो निश्चित रूप से उनको खुशी हो रही होगी कि ये मेरे काम कर रहे हैं या मेरे नाम को आज लेते हैं। क्योंकि मैं जहाँ भी हूँ, मेरा जहाँ भी नाम होगा- मेरा नाम बिना गुरु के हो ही नहीं सकता। मेरे पीछे गुरु का नाम है ही। लगा ही रहेगा। चाहे वो कैसे भी हों। अच्छा तो लगा होगा उनको। अगर उन्होंने वह ताना या काँटा नहीं चुभोया होता तो इस जिद में आकर शायद मैं यहाँ तक पहुँच ही नहीं पाती।

विनय : एक कलाकार की यह विनम्रता होती है कि वह अपने दुःस्वप्नों को भी बहुत खूबसूरती के साथ अभिव्यक्त करे। बहरहाल, ये तो हुआ। इसके बाद जैसी कि अपनी बात हो रही थी कि मंच की एक अभीप्सा होती है हमारे भीतर, कि बार-बार वह मिले। ये सिलसिला आपका मंच पर जाने का कब आगे बढ़ा और उसके बाद जब दर्शकों की प्रतिक्रियाएँ आपके पास आयीं, आलोचकों की प्रतिक्रियाएँ आयीं उन्होंने आपको कैसा हौसला दिया या परिष्कार के लिए आपको कैसे प्रेरित किया? कुछ ऐसे मंचों का, कुछ ऐसी प्रस्तुतियों का आप ज़िक्र करें।

लता : बिल्कुल मुश्किल से मंच मिला। लेकिन जब भी मंच मिला तो अपनी तरफ से पूरी कोशिश की और ईश्वर का शुक्र है कि जब उसकी अच्छी प्रतिक्रिया आयी तो दुगुना उत्साह हुआ। फिर एक और जोश आ गया कि ये सब चीजें होती रहेंगी, लेकिन हमें अपना प्रयास करना है। कुछ प्राइवेट ऑर्गेनाइजर ने मुझे मौके दिये। मैं खासतौर से जिक्र करूँगी मानव संग्रहालय का, जिसने मुझे उस दौर में उतने ही मौके दिये। और मैं तो कहूँगी विनय मैं शायद बहुत भाग्यशाली हूँ। ईश्वर की कृपा और गुरुओं का आशीर्वाद भी है। मौके मिलते चले गये और हर मौका मेरे जोश को बढ़ाता ही चला गया।

मुझे मुश्किल से मंच मिला। लेकिन जब भी मंच मिला तो अपनी तरफ से पूरी कोशिश की और ईश्वर का शुक्र है कि जब दर्शकों की अच्छी प्रतिक्रिया आयी तो दुगुना उत्साह हुआ। फिर एक और जोश आ गया कि हमें अपने प्रयास जारी रखना है।

विनय : अगर आपसे यह पूछा जाये कि लता मुंशी अपने दस्तखत किस नाम से भरतनाट्यम के इस रंग पटल पर छोड़ती हैं, तो आप अपनी तरफ से क्या जोड़ना चाहेंगी? भरतनाट्यम की एक विराट परम्परा हमारे साथ चलकर आ रही है, लेकिन आपने अपने स्वयं का एक मौलिक मुहावरा गढ़ने के लिए दरअसल क्या किया? क्या आपको ऐसा लगता है कि आपने चली आ रही इस ट्रेडीशन में अपना कुछ जोड़ा।

लता : मुझे लगता है परिस्थितियाँ इन सब चीजों के लिए बड़ी जिम्मेदार होती हैं और मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं तो शायद उन परम्पराओं के साथ करती चली जाती, लेकिन एक बात विनय साहब, मुझे अच्छा हुआ दिमाग में कैसे आयी, मुझे नहीं मालूम, लेकिन आ गयी थी। मुझे यह लगा कि जो हमने अपने गुरु से सीखा है, जो एक भरतनाट्यम की परम्परा है, मुझे वह सिखा दिया गया है कि ए बी सी डी ये चार शब्द हैं, लेकिन ए बी सी डी जो मैंने सीखा है, अगर मैं ए का प्रयोग अपने लेबल पर या अपने स्तर पर या अपनी समझ से नहीं कर पायी, तो वो पूरे अल्फाबेट सीखने का कोई फायदा नहीं। ये मेरे अन्दर विचार पैदा हुआ और मैंने कोशिश की।

मुझे मालूम था कि शायद सम्भव नहीं होगा, क्योंकि बहुत कठिन काम है वो, लेकिन कोशिश की है मैंने कि ए का मैं कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे उपयोग कर सकती हूँ। और मैंने बहुत डरते-डरते उसका प्रयोग किया। जब परफॉर्मेन्स हुआ, तो मुझे उसका बहुत अच्छा रिस्पॉन्स मिला। क्योंकि मुझे लगता है दर्शक भी हमेशा नयी चीज देखना चाहता है। उसका जब मुझे रिस्पॉन्स मिला तो मेरे अन्दर थोड़ी-सी हिम्मत बढ़ी, और-और प्रयोग करने का एक हौसला बढ़ा। हमने फिर और आगे बढ़कर काम किया। और मैंने पारम्परिक भरतनाट्यम के जो आइटम्स हैं, उनसे अलग हटकर बहुत सारे आइटम तैयार किये हैं।

यह एक बड़ी-सी बात बोलती हूँ मैं - मतलब मुझे बोलना अच्छा नहीं लगता है, लेकिन बहुत सारे आइटम्स हमने तैयार किये ये सोचकर कि इस कविता या इस गीत के ऊपर अगर भरतनाट्यम होगा तो वह कैसा होगा और वह बहुत अच्छा लगा। करना भी अच्छा लगा और उसके रिस्पॉन्स भी बहुत अच्छे मिले।

विनय : लता जी, चूँकि यह दक्षिण की शैली है और आप मध्य भारत में रह रही थीं। आपने कहा कि मेरी ज़िद थी कि मैं अपनी जन्मभूमि में ही आकर वापस साधना करूँ और यहाँ के लोगों को कुछ लौटाऊँ। लेकिन जब हम सार्वजनिक प्रस्तुतियों की बात करते हैं, तो उसमें सम्प्रेषण दर्शकों के साथ जोड़ना एक बड़ी चुनौती होती है। खासतौर पर शास्त्रीय नृत्य शैलियों के साथ यह होता ही है, क्योंकि इनकी मुद्राएँ, अभिव्यक्ति की देहभाषा जिसको हम कहते हैं उसमें ये तमाम चीजें रसिकों तक पहुँचना ही प्रदर्शन की कसौटी है। दरअसल हमारे तैयार हो रहे हिन्दी प्रदेश के दर्शकों के मानस में भरतनाट्यम जैसी शैली को सम्प्रेषित करना, जाहिर है आप जैसी नृत्यांगना के लिए बहुत बड़ी चुनौती थी। लेकिन आपने क्या ऐसे प्रयोग उसमें शुमार किये, जिसके कारण कि दक्षिण भारत की नृत्य शैली, जिसको कि हम बहुत जटिल माना जाता हैं, वो बहुत सीधे सम्प्रेषित हो पाई? क्या आपने दक्षिण और उत्तर भारत या मध्य भारत के संगीत को मिलाया? क्या आपने हिन्दी कविता को भी भरतनाट्यम के रंग पटल पर प्रस्तुति में शामिल किया? आपने अपनी भाव-भंगिमाओं में ऐसा कौन-सा रसायन पैदा किया, जिसके कारण से यहाँ के दर्शक भारी तादाद में तैयार होते गये? थोड़ा-सा इस पर प्रकाश डालिये।

लता : कोई भी कलाकार वह कितना भी उच्चकोटि का क्यों न हो, कार्यक्रम के दौरान अगर उसका तादात्म्य दर्शकों से न हो, तो वह अच्छा कलाकार नहीं हो सकता। ऐसा मेरा विचार है। क्योंकि कलाकार की सबसे पहली ज़िम्मेदारी दर्शकों को अपने आपमें या अपने आपको दर्शकों को सौंप देना ही होता है। जब दर्शक और कलाकार एक हो जाते हैं, तभी परमात्मा तक आप पहुँच सकते हैं और वो ही हमारे कार्यक्रम की सफलता होती है। अल्टीमेटली जो शास्त्रीय कलाएँ हैं, वो कहीं न कहीं हमें जोड़ती हैं पारलौकिक वो किसी भी रूप में हो सकता है। किसी का किसी तरह से हो सकता है, किसी का किसी तरह से। लेकिन वो हमें वर्तमान परिस्थिति से बिल्कुल कट कर दें और हम किसी दूसरी दुनिया में हों। वो ही कार्यक्रम है। वो ही कलाकार है। वही हमारी सफलता है। मुझे लगा कि चूँकि भरतनाट्यम के सारे कम्पोजीशन्स तमिल, तेलुगू, कन्नड़ भाषाओं में थे। और रस भाव से जो उत्पन्न होता है, वो दर्शक तक अगर नहीं पहुँचा तो कार्यक्रम आपका अधूरा होता है, चाहे आप कितना भी उच्चकोटि का नृत्य करते चले जाइए। क्योंकि नृत्य कलाकार के लिए दर्शक ही सर्वस्व है। तो मुझे लगा कि दर्शक तक कैसे पहुँचा जाए? हर बार मंच पर दर्शक बिल्कुल अलग तरह का होता है। उसकी कैटेगरी, उसकी भाषा, उसका बैकग्राउण्ड बिल्कुल अलग-अलग होता है। बहुत सारी भीड़ होती है, उसमें तरह-तरह के लोग होते हैं। उतने लोगों को समेटना एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। सबसे पहली चीज़ जो हमारे बीच में हमें एक कर सकती है, वह है भाषा। भाषा के तौर पर हम जब एक हो जाते हैं तो वह हमारी बात सुनने लगते हैं। मुझे लगा कि हमारे मध्यप्रदेश में हिन्दी का ज्यादा प्रचार है। हिन्दी को सब लोग आसानी से समझते हैं और बहुत ज्यादा बोलते हैं।

मैंने सोचा कि अगर मैं तमिल, तेलुगू या कन्नड़ में कोई भी आइटम करती हूँ, वह उनकी समझ में ही नहीं आयेगा। जब समझ में नहीं आयेगा तो उसका आनन्द कैसे लेंगे वो? रस कैसे पैदा होगा? तो मैंने उन सारे कम्पोजीशन्स के अलावा हिन्दी की जो पोइट्री थी, जो हमारे यहाँ के बहुत अच्छे कवि हैं, उन लोगों की रचनाएँ लेकर, उस तरह के कम्पोजीशन्स दैयार किये। जैसे मैं अगर कहूँ कि 'शिव पंचाक्षर'। 'शिव पंचाक्षर' साउथ का भी नहीं है, उत्तर का भी नहीं है, तैयार किये। वो 'शिव पंचाक्षर' है। दुर्गा सप्तशती, दुर्गा सप्तशती है। कुछ ऐसी चीजों को लेकर मैंने अपना नृत्य का संयोजन किया। जो पूरा कला का आधार है, निश्चित रूप से भगवान की आराधना बोलूँ या भक्ति बोलूँ, बेसिक में ही है। ये जो चीजें हैं, आदमी को बहुत जल्दी भावनात्मक तौर पर एक कर देती हैं या केन्द्रित कर देती हैं। जहाँ भी कुछ ईश्वर की बात हो रही होगी, जो भक्त हैं, नहीं हैं, वो भी वहाँ पर थोड़ अटरैक्ट होते हैं। विनय साहब, जैसे यहाँ पर कभी वायलिन मिला, कभी नहीं मिला, हमारे यहाँ भोपाल में तो खासतौर से उस्ताद अब्दुल लतीफ खाँ जैसे कलाकार हुए हैं। चूँकि यहाँ सारंगी अच्छी-खासी बज रही थी। तो मुझे बहुत विचार करने के बाद लगा कि सारंगी और वायलिन में बहुत ज्यादा अन्तर मुझे समझ में नहीं आया, बल्कि बहुत मीठा साज होता है सारंगी। मैंने सोचा कि क्यों न वायलिन की संगत में जब हम लोग एक साथ रहते हैं, तो सारंगी क्यों नहीं उसके साथ आ सकती। हमने गायन को भी हिन्दुस्तानी शास्त्रीय शैली में कर दिया। अब सब कुछ यहाँ के दर्शकों के लिए हो गया।

अब पूरा संगीत, पूरा वातावरण उनके अनुरूप तैयार हो गया। कोशिश की बहुत हमने कि मृदंगम् चूँकि हमारा मुख्य साज़ है और ताल के बिना तो कुछ नहीं कर सकते, तो कई बार मृदंगम् नहीं होने से हमने तबले की कोशिश की कि मृदंगम् की तरह से उसे बजाया जाये और उसका प्रयोग किया जाये। मैं अपने हर कार्यक्रम में दोनों का कॉम्बिनेशन रखने का प्रयास करती हूँ।

विनय : ऐसी प्रयोगधर्मी रचनाएँ जिनको बहुत पापुलरटी मिली है?

श्याम मुंशी : लता जी, आप वो भी बताइये कि ये प्रयोग आपने साउथ में भी जाकर किया है और वहाँ बहुत पसन्द किया गया - हिन्दी और सारंगी वाद्यों का।

जब दर्शक और कलाकार एक हो जाते हैं, तभी परमात्मा तक पहुँचने का रास्ता साफ हो जाता है। और यहीं हमारे कार्यक्रम की सफलता होती है। अंततः जो शास्त्रीय कलाएँ हैं, वो कहीं न कहीं हमें जोड़ती हैं। पारलौकिक वो किसी भी रूप में हो सकती हैं।

मैसूर में मेरा परफॉर्मेन्स था। तब मैं सारंगी लेकर गई, वहाँ तबला भी था, मृदंगम् भी था। जो दर्शक थे, बाकी सब चीज़ें तो जानते थे लेकिन उनको सारंगी के बारे में बिल्कुल मालूमात नहीं थे। कई लोगों ने आकर हमसे प्रोग्राम के बाद पूछा कि ये कौन-सा साज़ है और ये कैसा होता है। उसको छूकर उसके बारे में पूछा कि ये कैसे बजता है, क्या होता है? इतना नया था वहाँ पर। तो शायद वो ही चीज थी कि सारंगी अच्छी बजी, तो साउथ के लोगों को बहुत अच्छी लगी।

श्याम मुंशी : साउथ के लोगों ने बहुत पसन्द की।

विनय : बहुत अच्छी बात है। कई बार तो यह होता है कि आप थोड़ी-सी परम्परा से छेड़छाड़ करो तो कला के पण्डित आपको बहुत ही तिरछी नजरों से देखना शुरू करते हैं।

श्याम मुंशी : हाँ, वह भी हमें झेलना पड़ा।

लता : विनय साहब, वो भी झेला है। सब कुछ अच्छा-अच्छा नहीं हुआ। जहाँ अच्छा हुआ, वहाँ बुरा भी हुआ। कई लोगों ने बहुत जोर से यह बात सार्वजनिक तौर से कही कि मैं भरतनाट्यम नृत्य शैली के साथ खिलवाड़ कर रही हूँ, मैं भरतनाट्यम नृत्य शैली के साथ बहुत गलत काम कर रही हूँ और इस तरह मुझे काम नहीं करना चाहिए, परम्पराओं को तोड़ रही हूँ। फिर कोशिश की मैंने उन्हें समझाने की कि मैं नृत्यांगना हूँ, मेरी कोशिश है कि जो मेरी नृत्य की शुद्धता है वो बरकरार रहे और इस तरह से मैं नयी चीज़ें भी करूँ।

मैंने कहा कि आप उस वक्त क्यों नहीं सोचते जब आज के समय में हमारे यहाँ के भारत भवन जैसे बड़े रंगमंच पर लोग आकर जैज म्यूज़िक के ऊपर कथक करके चले जाते हैं। बाहर की जो वेस्टर्न म्यूजिक है उसके ऊपर क्लासिकल डांस करके चले जाते हैं। क्योंकि वो कलाकार दिल्ली से आये होते हैं, बाहर से आये होते हैं, जिनके बड़े-बड़े नाम हैं। मैंने देखा है कि कथक में दुपट्टी जैसी चीज़ गायब हो चुकी है। हम लोग तो आज भी बहुत माडर्न हैं, आज लोग बहुत पढ़े-लिखे हैं, बहुत तरक्की कर ली है, लेकिन थोड़ा-सा एक सलवार-कुर्ते के साथ दुपट्टे का प्रयोग होता है, लहँगा-चुन्नी के साथ हम एक दुपट्टे का प्रयोग करते हैं। लहँगा-चुन्नी तो बहुत ही ट्रेडीशनल ड्रेस है। फिर लहँगा-चुन्नी के साथ दुपट्टा कैसे गायब हो गया? विरोध वहाँ होना चाहिए। यहाँ तो ऐसा कुछ नहीं हुआ है। ये तो एक प्रयोग करने की कोशिश है और वह कोशिश इसलिए है, यह तो आचार्य भरतमुनि ने भी कहा है कि कला, स्थान, व्यवस्था - मतलब उस समय के अनुरूप ही - बदलती रहेगी। बदलेगी। ऐसी कोई चीज नहीं है, जो परिवर्तित न हुई हो। पूरा समय। प्रकृति तक बदल गयी तो कला और इंसान तो बहुत छोटी-सी बात है।

विनय : जाहिर है कि ध्रुपद गंगोत्री माना जाता है भारतीय संगीत का। ध्रुपद के बाद ख्याल आया। ख्याल के बाद उपशास्त्रीय आया, ठुमरी, दादरा, चैती। हमने सब एडॉप्ट कर लिया। आज समग्रता में हमारा संगीत है। दरअसल मर्यादित प्रयोग हमेशा से ही स्वीकार जाते हैं। नृत्य में भी प्रयोग और परिवर्तन जारी हैं।

श्याम मुंशी : विनय साहब, जो इसका विरोध करते हैं, या सारंगी का जैसे विरोध किया या तबले का विरोध किया उन लोगों से इतना पूछना है कि वायलिन साउथ में किस जगह पैदा हुआ था? यह तो आप जर्मनी से लेकर आये हैं, लेकिन सारंगी तो हमारे यहाँ पैदा हुई, तबला भी हमारे यहाँ पैदा हुआ। उससे आप गुरेज कर रहे हैं। ये क्यों?

विनय : श्याम भाई, बहुत अच्छी और तार्किक बात आपने कही है।

श्याम मुंशी : खूबसूरती होती है। एक मिठास होती है। जब तबला-मृदंग दोनों बजता है तो उसकी एक अलग ही खूबी होती है, बात अलग होती है। मुझे लगा कि जो चीज अच्छी हो सकती है, उसको हम क्यों न करें।

विनय : लता जी, मैं आपसे बीच में जिक्र कर रहा था, यह जानना चाह रहा था कि आपने जब यह प्रयोग शुरू किये, आपने साउथ और नॉर्थ को मिलाया, हिन्दी पोइट्री के साथ चीज़ें शुरू कीं। मुझे याद आता है कि आपकी 'मीरा' प्रजेन्टेशन मैंने विदिशा में देखी थी। एक बार शायद भारत भवन के मंच पर भी। इस तरह की कुछ ऐसी प्रस्तुतियों का आप ज़िक्र करें जिसको हमारे दर्शकों ने सर-आँखों पर लिया।

लता : हाँ विनय सर, बहुत अच्छी बात याद दिलायी आपने। उस्ताद अब्दुल लतीफ खाँ साहब के लिए हम लोग ये कार्यक्रम प्लान कर रहे थे। उसमें मैं भी अपनी कुछ हाजिरी देना चाहती थी। मैंने सोचा कि मैं उस्ताद जी की ही कम्पोजीशन्स के ऊपर नृत्य करूँगी, वो उनके लिए सही हाजिरी होगी। फिर मैंने तय किया और उनकी कम्पोजीशन्स में एक गजल, एक भजन और तराना ये तीन मैंने आइटम तैयार किये। और गजल के ऊपर भरतनाट्यम करने की हिम्मत जुटाई मैंने। बड़ी मुश्किल से।

श्याम मुंशी : पहला प्रयोग। किसी भरतनाट्यम नृत्यांगना ने नहीं किया।

लता : तो मैंने किया। इसमें भजन मीरा का था। जब मैंने उसको किया था तो खुद के आँखों से आँसू बह रहे थे, दर्शकों के आँखों से आँसू बह रहे थे। वो क्या प्रतिक्रिया थी, मुझे नहीं मालूम। समझ में नहीं आया कि क्या हुआ। मैं सोच रही थी, मैंने तो नहीं किया। ग़ज़ल किया, तराना किया, उसमें रुलाने जैसी बात नहीं थी, पर कहीं कुछ ऐसा भाव था- चाहे वो आनन्द की चरम सीमा थी या भक्ति की चरम सीमा थी, जो कहते हैं न आँसुओं के रास्ते से निकलकर बह रही थी।

श्याम मुंशी : ये मीरा के मामले में अक्सर ही आपके साथ हुआ है। बताओ अख्तर मियाँ वाला मुद्दा।

जब मैंने 'मीरा' की प्रस्तुति दी तो खुद के आँखों से आँसू बह रहे थे। दर्शकों की आँखों में भी आँसू थे। वो क्या प्रतिक्रिया थी, मुझे नहीं मालूम! समझ में नहीं आया कि क्या हुआ! कहीं कुछ ऐसा भाव ज़रूर था जो दर्शकों को विगलित कर रहा था। आनन्द की चरम सीमा थी या भक्ति की चरम सीमा, जो आँसुओं के रास्ते से बह रही थी।

लता : ये किस्सा मैं बताऊँगी। अख्तर साहब 'पीर' के नाम से प्रसिद्ध थे। संगीत के प्रति उनकी गहरी रुचि थी, पर उन्होंने जिन्दगी में कभी डांस नहीं देखा था। उनकी जो भी सोच रही हो। 'रक्स' वह कहते थे, लेकिन रक्स वे देखते नहीं थे। मैं जब उनसे मिली और बहुत ही आत्मीयता, प्रेम से वह मुझसे मिले और उसके बाद मुझे मानव संग्रहालय में प्रोग्राम मिला। मैंने उनसे ऐसे ही कहा कि- बाबा, आप आएँगे क्या प्रोग्राम देखने? उन्होंने कहा- भाई मियाँ (मुझे यही कहते थे) मैं रस्क तो देखता ही नहीं हूँ। मैंने कहा - अगर आप आते और आप मेरा प्रोग्राम देखते तो मुझे बड़ा अच्छा लगता। बोले- अच्छा ठीक है, मैं आऊँगा। मुझे बता देना कब है? वो आये।

तब उनकी उम्र बहुत ज्यादा हो गयी थी। जो मानव संग्रहालय का ओपन थिएटर है, उसमें सीढ़ियाँ बहुत सारी हैं। किसी ने आकर बताया कि पीर साहब आ गये। लोग बहुत मानते थे। मैंने देखा कि कई गाड़ियाँ उनके लिए लगी रहती थीं कि - पीर साहब, आप प्लीज़ हमारी गाड़ी में बैठ जाइये। मैंने अपनी आँखों से देखा है और अच्छे-अच्छे लोग खड़े रहते थे कि हमारे साथ आ जाइये। तो जैसे ही वो आये, उनके साथ काफी लोग थे तो हल्ला लग गया- पीर साहब आये, पीर साहब आये। श्याम जी उनको पीछे लेने गये। श्याम जी ने कहा कि इतने पीछे से देखेंगे तो आपको कुछ दिखेगा नहीं। उनके लिए बहुत मुश्किल था चढ़कर आना। पर आये धीरे-धीरे करके और बिल्कुल सामने की सीढ़ी पर आकर वह बैठ गये और मेरा वहाँ कार्यक्रम हुआ। जैसे ही मैंने 'मीरा' शुरू किया उनकी आँख से आँसू बहना शुरू हुआ। मुझे तो पता नहीं, मैं मच पर थी, फिर जैसे ही कार्यक्रम खत्म हुआ, श्याम जी से कहा - आज स्टेज पर भाई मियाँ (लता) नहीं थे। आज मंच पर भाई मियाँ नहीं थे। श्याम जी बोले, हम लोग तो समझ नहीं पा रहे थे कि ये क्या कह रहे हैं। बोले- आज तो कोई और था वहाँ। मुंशी, मुझे भाई मियाँ के पास ले चलो, आज मैं उनके पैर छूना चाहता हूँ। तो जैसे ही आये, मैं झुकने लगी। वे बोले- भाई मियाँ नहीं, आज नहीं। आज मैं तुम्हारे पैर छुऊँगा। मैं बहुत जोर से डर गयी। मेरे रोंगटे खड़े हो गये। मैंने कहा - नहीं, आप मेरे पैर छुएँ, यह मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती। आज भाई मियाँ, आप थे कहाँ? आज तो कोई और था और मुझे उसके पैर छूना है।

विनय : क्या बात है!

लता : और उन्होंने सचमुच पैर छुए। ये लोग तो खैर मानते नहीं हैं बातों को पर विनय साहब, मैंने देखा था उनकी आँखों में कुछ था। वो सिद्ध पुरुष थे। कहते हैं न ईश्वर किसी-किसी को देता है वह सिद्धि।

विनय : लता जी, आपकी यात्रा के बहुत खूबसूरत से पड़ाव हैं जिसमें दर्शकों की ओर से, आशीर्वाद मिला एक पीर की ओर से। निश्चित रूप से ये तो आपकी कला का, आपके नृत्य का सबसे बड़ा अर्जन। मैं जानता हूँ एक वह दौर था जब आपने गुरुओं से सीखा एक शिष्या के रूप में। अब वो मुकाम आया है जब आप वो तमाम विरासत आने वाली पीढ़ी को लौटा रही हैं। आपके साथ भी बहुत सारी शागिर्द जुड़ गयी हैं। ये उस दौर की साधना, संयम अनुशासन, उस दौर की संवेदनाएँ सामाजिक पृष्ठभूमि जो आपके साथ थीं लेकिन आज काफी कुछ बदल गया है, बहुत सारी नई चीज़ें आ गयी हैं। आपकी उस समय की डेडीकेशन में और आज जब आप इन बच्चों को सिखाती हैं इसमें, आप क्या फर्क देखती हैं? क्या आपको ऐसा लगता है कि आज बच्चा केवल गुरु से ही नहीं, अपने टाइम से भी और अपने बहुत सारे जीवन्त साधनों से भी सीखता है? आप इस तब्दीली पर और इस गुरु परम्परा के बदलते प्रभाव पर थोड़ा-सा प्रकाश डालिये।

लता : उस दौर में जब हम सीख रहे थे अपने गुरुओं से और आज के दौर में बहुत फर्क है। फर्क धीरे-धीरे आया है और वो सब मैंने महसूस किया है। क्योंकि मैं विद्यार्थियों से लगातार जुड़ी रही और युवा वर्ग से। क्योंकि कॉलेज में भी मैं पढ़ाती हूँ, तो हर साल एक फ्रेश युवावर्ग मेरे सामने होता है, मेरे साथ होता है। विनय साहब, वो श्रद्धा आज गुरुओं के प्रति बच्चों में नहीं हैं। दूसरा जो मैं महसूस करती हूँ, एक अनुशासन जो होता था पहले, बहुत शख्त और बहुत शक्ति से पालन किया जाता था। सबके जीवन में होता था। अनुशासन पहले घर में भी मिलता था। पहले हमारे पेरेन्ट्स हम लोगों को अनुशासित करते थे, जिस तरह से हमें लिमिटेड करते थे, संसाधन भी कम थे और जो संसाधन थे उनकी भी हमारे पेरेन्ट्स की तरफ से मर्यादाएँ थीं। जैसे मुझे याद आता है, मेरी माँ हमेशा कहा करती थी- 'बेटा, दीया जले उसके पहले घर आ जाना'। रात को इतनी देर तक बाहर रहना ठीक नहीं है। आज तो वो कान्सेप्ट ही नहीं है। आज मैं खुद अपने बच्चे में देखती हूँ या अपने आसपास के बच्चों में देखती हूँ। घर में ही वो वातावरण नहीं है। आज बच्चा जिस तरह से अपने माता-पिता से बात करता है, उसकी तो हम कल्पना ही नहीं कर पाते।

श्याम मुंशी : यहाँ मैं एक बात कहना चाहूँगा। मैं भी संगीत से जुड़ा रहा हूँ, मैं भी इस शिष्य परम्परा में हूँ। हमारे पेरेन्ट्स ने हमेशा हमको बताया कि गुरु के प्रति तुम्हारा क्या भाव होना चाहिए? हमारे अन्दर ये भाव अपने आप नहीं आ गया। तो वो चीज़ आज के पेरेन्ट्स शायद नहीं बता पा रहे हैं, अपने बच्चों को वो संस्कार नहीं दे पा रहे हैं। आज अपने गुरु के प्रति जो श्रद्धा-भाव हमारे मन में हैं, जो हमारे पेरेन्ट्स ने पैदा किया था हमारे अन्दर। मेरा ऐसा मानना है कि आज अगर बच्चा कोई गलतियाँ कर रहा है, मेरा बच्चा अगर कुछ गलत रहा है तो वह इसका जिम्मेदार नहीं है, उसका जिम्मेदार मैं ही हूँ। अगर बच्चों में कहीं कुछ कमी या इस तरह की श्रद्धा और भक्ति या वो भाव नहीं है, तो उसके पीछे कहीं न कहीं पेरेन्ट्स भी इसके जिम्मेदार हैं कि उनके पास इतना वक्त नहीं है कि वह गुरुओं के बारे में बताएँ कि गुरु क्या चीज होता है? वो दौर गया कि जब 'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय/बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो बताये।' अब वो चीज़ नजर नहीं आती है। कॉमर्शियलाइजेशन उसका हो गया है। लड़का भी कहता है- अरे, हम पैसा दे रहे हैं, ये हमारे मास्टर हैं। वो 'गुरु' से 'मास्टर' हो गया है। ये बहुत ही तकलीफदेह है।

विनय : संवेदनशीलता की बात श्याम भाई ने कही। उन्होंने कहा कि अब वो वैसी पहले वाली बात नहीं रही है। दरअसल, मैं इसको आपके नृत्य से जोड़कर आपसे जानना चाहूँगा कि हमारी शिक्षा में या हमारी शैली के दो पहलू होते हैं। एक होता है कलापक्ष,एक होता है भावपक्ष। कलापक्ष, जाहिर तौर पर कला के तंत्र से जुड़ता है, भावपक्ष दरअसल हमारे भीतर संचित संस्कारों से आता है। ये भावपक्ष जब आप प्रस्तुत करती हैं, तो उसमें आपका स्वयं का कमाया हुआ, जीवन का एक भरा स्वाद आपके साथ जुड़ता है। ये जीवन से हमारा जो मटियारा स्वाद खारिज हो रहा है, जीवन के साथ हमारी अंतरंगता जो छीजती जा रही है, क्या आपको लगता है कि आज के जो कलाकार तैयार हो रहे हैं, उनमें ये भावपक्ष गायब हैं?

लता : आपने बहुत अच्छी बात कही, विनय साहब। वाकई में बहुत बीरीकी से आपने उसको महसूस किया है। ये बिल्कुल सच है कि जब भाव करते हैं तो हमारे अन्दर का व्यक्तित्व निकलकर आता है। कहीं न कहीं उसका असर होता है हमारे भाव पर। तो अगर इतनी गहरी संवेदनशीलता या उतनी गहरी इंसानियत आपमें नहीं है, तो आपमें वो बात नहीं आ पायेगी। मतलब आप टेक्नीकल भाव को पूरा ठीक करके चले जाएंगे, लेकिन वो जो एक असर पैदा करने वाली बात है। वह नहीं उजागर हो पाती। भाव के बगैर नृत्य महज कठपुतली है।

विनय : आप सिनेमा देखती हैं?

लता : न के बराबर।

विनय : ऐसी फिल्मों को तो पसन्द करती हैं, जो नृत्य प्रधान होती हैं?

लता : आज की फिल्में तो बहुत कम देखती हूँ। बहुत ही कम, बमुश्किल फिल्में देखते हैं। लेकिन कुछ जो पहले की फिल्में थीं, जिनमें मैं 'आम्रपाली' का जिक्र करूँगी। एक और फिल्म, जो मीना कुमारी की फिल्म थी 'पाकीज़ा', 'आज़ाद'। 'अपलम-चपलम' बहुत फेमस गीत हुआ करता था उस समय का, उसमें कितना खूबसूरत भरतनाट्यम किया गया है दो लड़कियों के द्वारा। 'किनारा' बहुत पसन्द थी। अभी बाद की ही बहुत सारी फिल्में जो डांस-बेस ही आई थीं, जिनमें बड़ी खूबसूरती से डांस को दिखाया था।

मुझे अच्छा लगता है उन फिल्मों को देखना। आज की फिल्मों के डांस मुझे बिल्कुल अच्छे नहीं लगते हैं। विनयसाहब, बहुत तकलीफ होती है मुझे। कहने का मतलब बच्चों से सुनते हैं- उसका डांस देखा आपने, उसका वो देखा। मुझे लगता है वो डांस है ही नहीं। उनको मालूम ही नहीं है।

कुछ वर्ष पहले तक हमारे जीवन में अनुशासन होता था। बहुत सख़्ती से उसका पालन किया जाता था। यह अनुशासन पहले घर से मिलता था। हमारे पेरेन्ट्स हम लोगों को अनुशासित करते थे, हमें मर्यादित रखते थे और हम भी उनका आदर करते हुये नियंत्रित रहते थे। आज जैसे यह हमारे बीच से गायब होता जा रहा है। यही बात कलाओं के संबंध में भी लागू हो रही है।

विनय : अभी भी जिस भी दायरे में भरतनाट्यम बच्चों को सिखा रही हैं, यहाँ पर रोज़ बच्चे इस घर में आकर शाम के समय आपसे सीखते हैं। क्या भरतनाट्यम का कोई 'स्थायी बसेरा' बनाने का सपना देखती हैं? क्या आपको लगता है कि एक ऐसा परिसर हो, जहाँ पर आप पूर्णकालिक रूप से भरतनाट्यम सिखाएँ? क्या ऐसी कोई संकल्पना आपके मन में है?

लता : हाँ, बिल्कुल है। वो शायद मेरा ख्वाब बोलूँ, संकल्प बोलूँ, प्रतीज्ञा बोलूँ, जो भी बोलूँ - मन में एक विचार है कि आज जहाँ मैं ये काम कर रही हूँ, मैं हूँ, कल मैं अगर नहीं हूँ, हो सकता है कि यहाँ से ये चीज़ खत्म हो जाएगी। मुझे लगता है मेरे जीते जी एक ऐसी जगह तैयार कर दूँ कि मैं हूँ। या न हूँ, लेकिन इस कला के लिए यह कार्य वहाँ सीखने और सिखाने का निरंतर चलता रहे। मेरी बड़ी ख्वाहिश है कि ऐसा आश्रम गुरुकुल मैं बना सकूँ, ताकि वहाँ पर सिर्फ इस कला के लिए कार्य होता रहे।

विनय : वैसे तो भोपाल की बहुत सारी सांस्कृतिक संस्थाओं ने आपको सम्मानित किया है, लेकिन फिर भी बहुत सारे ऐसे पुरस्कार हमारे प्रदेश सरकार के भी हैं, हमारे देश के भी हैं जो कलाकारों का मान बढ़ाते हैं। क्या आपको ऐसा लगता है कि पुरस्कारों की निज़ी ज़िन्दगी में या एक कलात्मक जिन्दगी में कोई अहमियत है?

लता : निश्चित रूप से पुरस्कार किसी भी व्यक्ति को उत्साहित करते हैं, खुशी देते हैं। चाहे वह किसी भी लेवल का पुरस्कार हो या अवार्ड हो या सम्मान हो - उसके मिलने से खुश होता है आदमी। मैं भी बहुत खुश होती हूँ। लेकिन यह बिल्कुल सच है कि जिस तरह का वातावरण आज सम्मान के लिए या पुरस्कार के लिए बन चुका है, उस स्थिति में उस सम्मान को मैं नहीं पाना चाहती। मुझे नहीं चाहिए। मुझे लगता है कि कलाकार के लिए सबसे बड़ा सम्मान है, अगर आपकी कला को, आपके परफॉर्मेन्स को दर्शक पसन्द करता है तो वह वहीं तय कर देता है आप पुरस्कार या सम्मान के लायक हैं या नहीं। वो ही सबसे बड़ा सम्मान होता है। तो मैं भी उसमें विश्वास करती हूँ।

विनय : वैसे तो यह निजी प्रश्न है किन्तु फिर भी प्रशंसक अपने प्रिय कलाकार की पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में भी जानने की इच्छा रखते हैं। क्या आप अपने परिवार के बारे में भी कुछ बताएंगी?

लता : जी. जरूर विनय साहब। ईश्वर की कृपा से मैं एक नृत्यांगना के अलावा एक भरे-पूरे संयुक्त परिवार की सबसे बड़ी बहूँ हूँ, हमारे परिवार में मेरी सासूजी, मेरे देवर, देवरानियाँ, मेरी ननद, मेरे दो बच्चे, मैं और मेरे पति सब साथ रहते हैं। मेरे पति श्री श्याम मुंशी एक कहानीकार, रंगकर्मी, संगीत रसिक और कला समीक्षक हैं। मेरे सारे कार्यक्रमों के निर्धारण और नये नृत्य संयोजन में हमेशा वह अपना सहयोग और मार्गदर्शन पूर्ण मनोयोग से देते हैं। मेरी बेटी भी नृत्य कर रही है और वह मेरे कार्यक्रमों में अक्सर मेरे साथ होती है। हाल की विदेश यात्रा में भी मेरे साथ रही। बेटा आठवीं क्लास में है। यूँ तो वह तबला बजाता है और नृत्य भी उसे काफी याद है। मैं भी अपने नृत्य कार्यक्रम और रियाज के बाद सिर्फ एक घर की बहू, एक पत्नी और एक माँ रहती हूँ।

विनय : आखिरी सवाल, भोपाल आपको किस तरह से घेरता है? साधना और सिद्धि के स्तर पर भोपाल शहर को आप कहाँ पाती हैं? आप भोपाल में नहीं होतीं, तो क्या होता भविष्य?

लता : भोपाल से एक आत्मीयता है। भोपाल में ही पली - बढ़ी हूँ। इसमें यह बिल्कुल जोड़ूँगी कि भोपाल प्राकृतिक खूबसूरती से भरपूर है। हमें तो अच्छा लगता है। मैं आपको छोटी-सी बात बताना चाहूँगी- फिजी जब हम गये और सिंगापुर भी गये, आस्ट्रेलिया भी गये।उसके बाद हमने बहुत सारी कण्ट्रीज देखीं और बहुत अच्छी साफ-सफाई और एडवांस टेक्नॉलॉजी देखने को मिली। लेकिन थोड़े दिन के बाद हमें लगा कि हमें भारत चलना है, हमारे देश जाना है हमको। क्यों जाना है? एक कसक थी, खींच रहा था मन हमारा कि हमको वापस लौटना है। और लौटने के बाद जो पहला दिन, स्टेशन पर खूब सारी गन्दगी थी, भरपूर गन्दगी थी स्टेशन पर, कहीं पान की पीक थी, कहीं कचरा था। लेकिन आप यकीन नहीं करेंगे विनय साहब कि मुझे कितना अच्छा लग रहा था वो सब कुछ। क्योंकि हम उसके आदी हैं और अपनेपन का अहसास ही अपने देश का है। हमें अपने देश का यह इम्पोर्टेन्स उसका प्रेम तब महसूस हुआ जब हम उससे दूर चले गये। तो वही बात है भोपाल। फिर मेरे देश के बिल्कुल हार्ट में बसा हुआ है भोपाल और इतना खूबसूरत है कि उसमें मुझे अपनेपन का अहसास है।

जहाँ तक साधना की बात है, तो यहाँ पर भरपूर सहयोग मिला है सब तरह से कि मैं अपनी साधना कर सकूँ और अगर नहीं मिला या कुछ कमी रही है, तो मैं यह सोचकर कि मेरा ही तो शहर है, मेरा ही तो अपना है, उन कमियों को हम तोड़ते चले गये, माफ करते चले गये। बहुत सारी तकलीफें होती हैं, वो सब भूल जाइये। मुझे लगता है हम सबको अपने जीवन में बहुत पॉजीटिव रहने की जरूरत है। हम उस भरेपन को देखें, जो हमें मिला है और जो नहीं मिला है, उसके लिए प्रयास करते रहें।

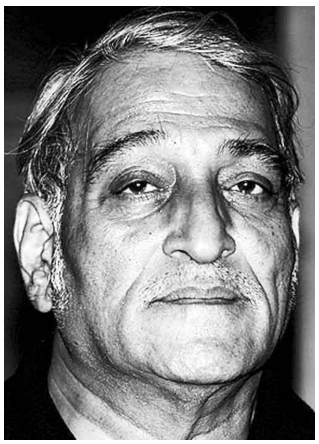
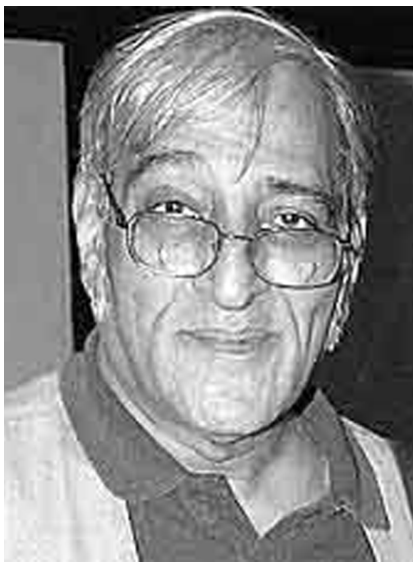

विनम्र रंग-आश्वस्ति

सुनील मिश्र

मोहन आगाशे

मोहन आगाशे के बारे में यदि यह कहा जाये कि वे एक विनम्र रंगआश्वस्ति का अर्थात हैं तो शायद कोई अतिश्योक्ति न होगी। भारत भवन में उनको 1988 में जब्बार पटेल के नाटक घासीराम कोतवाल में पहली बार देखने का अवसर आया था। नाना फड़नवीस की भूमिका उन्होंने निभायी थी। मराठी नाटक था, डेढ़ घण्टे एकाग्र किए रखने वाली प्रस्तुति के अगले दिन वे दूसरे मराठी नाटक महानिर्वाण के शुरू होने का इन्तजार कर रहे थे, बाहर सीढ़ियों पर बैठे थे। मैंने कलाओं पर तब नया-नया लिखना शुरू किया था, उम्र और अनुभव के साथ-साथ ज्ञान के आधे-अधूरे बाँकपन की भी एक अदा होती है, मैंने उनके पास जाकर कहा कि आपका इन्टरव्यू करना चाहता हूँ। वे मुझे पूरा निहारकर बोले, क्या बात करना चाहते हो, मेरे बारे में कुछ जानते तो हो नहीं, बेहतर हो अपन नाटक देखें, शुरू होने वाला है। इतना कहकर वे मेरा हाथ पकड़े-पकड़े अन्तरंग सभागार में दाखिल हो गये और फिर हाथ छुड़ाकर अपनी जगह पर बैठ गये, झेंपता हुए मैंने भी जगह ली। इस बीच एक लम्बा अरसा व्यतीत हुआ है। उनकी हिन्दी-मराठी की कई फिल्में देखीं। कुछ महीने पहले फिर एक अवसर आया जब उनसे सत्यजित राय की फिल्म सद्गति में निभाये ब्राम्हण के उनके किरदार को लेकर लम्बी बातचीत हुई। उसी बीच उन्होंने अक्टूबर-नवम्बर को भोपाल और इन्दौर में मंचित होने वाले उनके नाटकों आधे-अधूरे और काटकोन त्रिकोन के बारे में बताया था। दो हफ्ते पहले भोपाल में आधे-अधूरे देखने के बाद इन्दौर में मराठी नाटक काटकोन त्रिकोन देखने का अवसर भी मैंने जुटा लिया।

भारतीय रंग जगत में एक लगभग पचास से भी ज्यादा साल पुरानी महत्वपूर्ण कृति पर किसी सशक्त नाटक को देखना अपने आपमें एक बड़ा अनुभव है। मोहन राकेश की कृति पर आधारित लिलेट दुबे निर्देशित नाटक आधे-अधूरे देखकर लगता है कि ये लगभग आधी सदी बराबर का व्यतीत समय भी स्थितियों को बदल नहीं पाया है। आधुनिकता और आविष्कार ने दुनिया के विकास और परिष्कार की बहुत सी बातें स्थापित की हैं लेकिन मनुष्य की स्थितियों, पूर्णता की उसकी विफल सी तलाश और अपने अधूरेपन को लेकर बनी रहने वाली झुँझलाहट वैसी की वैसी ही है। उसमें कोई फर्क या बदलाव नहीं आया है। नाटक में मुख्य रूप से पाँच पात्र हैं लेकिन भारतीय रंगमंच के विलक्षण कलाकार डॉ. मोहन आगाशे द्वारा निभाये पाँच पृथक किरदारों को समाहित कर दिया जाये तो कुल मिलाकर नौ हो जाते हैं। यहाँ आगाशे द्वारा निभाये गये पाँच किरदारों की बात हम आगे करेंगे, पहले आधे-अधूरे नाटक की पृष्ठभूमि में जाने की कोशिश करते हैं।

आधे-अधूरे एक परिवार के माध्यम से जीवन के असन्तोष और शिकायतों की बात करता है जहाँ मुखिया महेन्द्र नाथ, अपनी पत्नी सावित्री, दो बेटियों बिन्नी और किन्नी तथा बेटे अशोक के साथ रहता है। मुखिया अपने व्यावसाय में सब कुछ खो चुका है, घर पर रहता है। पत्नी कामकाजी है, घर उसकी तनख्वाह से चलता है। बड़ी बेटी ने परिवार की इच्छा के विरुद्ध भागकर विवाह कर लिया है लेकिन एक दिन वह अपने पति को छोड़कर वापस आ जाती है। बेटा बेरोजगार और कुण्ठित है, छोटी बेटी बड़ी हो रही है, उसकी अपनी उद्विग्नताएँ हैं। मुख्य रूप से घर में अपनी थकी और खिसियायी जिन्दगी काटता महेन्द्र नाथ, पत्नी सावित्री

से अक्सर जीवन की विफलताओं के दोषारोपण में पराजित हो जाया करता है। एक दिन वो घर छोड़कर अपने दोस्त जुनेजा के घर चला जाता है। सावित्री की जिन्दगी में दो और पुरुष हैं जो अलग-अलग स्थितियों में घर में आते-जाते हैं, एक सिंघानिया उसका बॉस, दूसरा जगमोहन पहले का प्रेमी। सिंघानिया की खुशामद की जरूरत उसे इसलिए है कि वो शायद उसके बेटे को कोई नौकरी दे देगा। जगमोहन से उसके रिश्ते बीच में खत्म हो गये थे लेकिन जगमोहन फिर आता है, तब जब महेन्द्र नाथ घर छोड़कर चला गया है और सावित्री भी घर और अपनी हताशा से ऊब गयी है।

महेन्द्र नाथ और सावित्री के घर में हम बौखलाए लोगों को देखते हैं। अलग-अलग उम्र के लोग एक ही धरातल पर अपनी असन्तुष्टि, अनुशासन की कमी और नियंत्रण की घोर अनुपस्थिति के बीच अपनी अकेली दिशाहीनता से घबराये हुए हैं। कोई पूरा नहीं है, सब आधे-अधूरे हैं। हम देखते हैं कि समय की बड़ी आवृत्ति में जिन्दगी ही कट रही है लेकिन सब के सब घर में रखे फटे-पुराने और निष्प्राण सामानों की तरह हैं। पुराना रेडियो, पंखा, सोफा, मेज, फटा टाट, किन्नी के सामने से फटे मोजे विफलता और भटकाव की गहरी बातें बीच बहस में व्यक्त करते हैं। अपरिचितों और असहमतियों का घर कितनी बड़ी-बड़ी कीमतें चुकाता है, यह आधे-अधूरे नाटक में नजर आता है। डॉ. मोहन आगाशे की क्षमताओं को देखकर हतप्रभ हो जाने के सिवा कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, वे सूत्रधार समेत पाँच किरदारों में आते हैं। वे महेन्द्र नाथ हैं, वे ही जुनेजा हैं, वे ही जगमोहन हैं, वे ही सिंघानिया हैं। कितनी विविधताओं को नितान्त विभेदों के साथ वे इन किरदारों को मंच पर सार्थक करते हैं, देखकर ताज्जुब होता है। लिलेट दुबे नाटक की निर्देशक हैं, वे सावित्री के रूप में एक निरन्तर खोती और हारती रहने वाली स्त्री की भूमिका को अपनी वेदना के साथ सार्थक करती हैं। नाटक में विशेष रूप से अशोक का किरदार जिसे राजीव सिद्धार्थ ने निभाया है और किन्नी का किरदार जिसे अनुष्का साहनी ने निभाया है, विशेष रूप से अपने स्वाभाविक और सधे अभिनय के साथ याद रह जाते हैं। बिन्नी के रूप में इरा दुबे की उपस्थिति इन किरदारों से आगे बढ़कर नहीं जा पाती। आधे-अधूरे नाटक को सार्थकता प्रदान करने में कलाकारों के श्रेष्ठ अभिनय के साथ मंच-परिकल्पना और सामग्री का बड़ा योगदान है। अभाव और अधूरेपन को स्टेज-प्रॉपर्टी सार्थक प्रभावों के साथ व्यक्त करती है। वेशभूषा को लेकर राय जरा अलग सी है क्योंकि एक अभावग्रस्त परिवार की एकमात्र कमा कर लाने वाली स्त्री सावित्री के कपड़े बड़े महँगे, भव्य और वैभव का प्रदर्शन करते दीखते हैं। ऐसे कपड़ों का सीधा विरोधाभास किन्नी के फटे मोजों से है। ब्याहता बेटी के अच्छे कपड़ों को नजरअन्दाज़ किया जा सकता है लेकिन सावित्री की कीमती साड़ियाँ वातावरण को कहीं न कहीं बाधित करती हैं। आधे-अधूरे नाटक देश के मूर्धन्य रंगकर्मियों ने समय-समय पर किया है। लिलेट दुबे की यह प्रस्तुति एक अभिनेत्री के साथ निर्देशक के रूप में निश्चित रूप से उल्लेखनीय है। एक ऐसी मंच-कृति जो आपको प्रभावित करके छोड़े वो निश्चित रूप से श्रेष्ठ मानी जाती है, यह नाटक भी उतना ही सशक्त और सार्थक प्रतीत होता है।

डॉ. मोहन आगाशे ने भोपाल में ही काटकोन त्रिकोन के बारे में बताया था। इस मराठी नाटक का निर्देशन गिरीश जोशी ने किया है। हिन्दी की विशुद्धता में हम इस नाटक के नाम का उच्चारण काठकोण त्रिकोण कर सकते हैं। यह नाटक ससुर, पुत्र और बहू के एक घर में घटित होता है। आमतौर पर महानगरों में, विशेषकर आधुनिक मध्यवर्ग की नयी पीढ़ी में परिवार का जैसा सीमित स्वरूप होता है, वैसा ही तानाबाना इस नाटक में बुना हुआ हम देखते हैं। विशिष्ट बात यह है कि यहाँ रिश्तों की व्याख्या को समझने के लिए ज्यामितीय उदाहरण दिया गया है, यह ज्यामितीय उदाहरण बहू अपने पति को भी देती है और ऐसी ही व्याख्या इन्स्पेक्टर बापट भी बेटे के सामने प्रस्तुत करता है। कहानी यह है कि बेटे-बहू की शादी की सालगिरह है, वे खाना खाने घर से बाहर होटल में गये हैं। ससुर घर में है। जब दोनों रात को घर लौटते हैं तो घर में दाखिल होते ही अपने कमरे में चले जाते हैं। पिता बालकनी के रेलिंग पाइप के एक ढीले स्क्रू को कसने का उपक्रम करता है कि नीचे गिर जाता है, गम्भीर अवस्था में घायल और बाद में मृत्यु। इन्स्पेक्टर बापट इस गुत्थी को सुलझाने आता है।

डॉ. मोहन आगाशे की क्षमताओं को 'आधू-अधूरे' में देखकर हतप्रभ हो जाने के सिवा कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। वे सूत्रधार समेत पाँच किरदारों में आते हैं। वे महेन्द्र नाथ हैं, वे ही जुनेजा हैं, वे ही जगमोहन हैं, वे ही सिंघानिया हैं। कितनी विविधताओं को नितान्त विभेदों के साथ वे इन किरदारों को मंच पर सार्थक करते हैं, देखकर ताज्जुब होता है।

पिता है आबा, बेटा है राहुल और बहू है भक्ति। आबा की भूमिका दो दृश्यों की है, उसके बाद घटना हो जाती है। बाद में इन्स्पेक्टर बापट के सवालों का जवाब देते-देते भक्ति और राहुल थक जाते हैं। कई बार बापट के तर्क घटना को लेकर जिन सम्भावनाओं पर जाकर ठहर जाते हैं, हम हतप्रभ हो जाते हैं लेकिन क्षण भर की उस स्थिरता के बाद फिर दूसरी बात निकलती है और एक दूसरी सम्भावना पर जाकर ठहरती है। पिता को राहुल ने नहीं मारा,

ससुर को भक्ति ने नहीं मारा। आखिर में यह बात सिद्ध होती है कि उनकी मृत्यु गिरकर ही हुई है। लेकिन इस निष्कर्ष के साथ ही कुछ दुखद सत्य भी उद्घाटित होते हैं। यह बात सामने आती है कि नयी पीढ़ी अपने अविभावकों की उपेक्षा करती है उससे वे जिस तरह का अकेलापन और असहजता महसूस करते हैं उसी मन:स्थिति में व्यतीत समय का आकलन प्राय: अविभावकों के मन-मस्तिष्क में चलता रहता है। इससे उपजी व्यथा और दुख ही ऐसी दुर्घटना का कारण बनता है। आबा का मृत्युपूर्व दिया गया बयान अपने बेटे और बहू को मुक्त तो करता है लेकिन इन्सपेक्टर बापट आखिर में प्रश्न उठाता है कि कितने साल से तुमने अपने पिता का स्पर्श भी नहीं किया था। बापट का कहना होता है कि बुढ़ापे में केवल डॉक्टर ही छूता है, जबकि बुजुर्ग अपने बच्चों के स्पर्श को तरसते हैं।

मोहन आगाशे एकाधिक भूमिकाओं के बड़े अभ्यस्त हैं। वे आबा की भूमिका में भी हैं और बाद में बापट के रूप में इन्स्पेटर बनकर भी आते हैं जो घटना की पूरी जाँच कर रहा है। पिता की भूमिका में वे रिश्तों की ज्यामितीय व्याख्या में दूरियों और नजदीकियों के बीच कहीं खड़े अविभावक को चरितार्थ करते हैं तो बापट के रूप में वे पूरी घटना को अपने पेशे, सम्भावनाओं और शक-शुबहों के बीच चौंकाने वाले तर्क देते हैं। नाटक एक बड़ी सीख और सबक के साथ पूरा होता है। नाटक खत्म होने के बाद जैसा कि स्वभावगत होता है, स्टेज के पीछे जाकर कलाकारों से मिलना बड़ी दिलचस्पी का विषय होता है। देखकर आश्चर्य हुआ कि मोहन आगाशे चेंज करके पीछे आराम से अकेले एक कुर्सी पर बैठे आराम कर रहे थे। उनको देखकर लगा कि रंगकर्म उनके भीतर पूरी तरह से सधा हुआ ऐसा महासमुद्र है जो खुद उनसे नियत्रित है। वे मूल रूप से रंगमंच के आदमी हैं। अपनी पहचान भी वे इसी तरह स्थापित करते हैं। सिनेमा उनके लिए रंगमंच से ज्यादा महत्व का आयाम नहीं है। उनका रंग-प्रतिबद्ध होना इस एहसास को बचाये रखता है कि यह माध्यम ऐसे ही विलक्षणों के विलक्षणपन से अपनी गरिमा को बचाकर रखे हुए है।

सवाल करे, वही सच्चा नाटक

एकता गोस्वामी

मौका था हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और विलक्षण प्रतिभा के धनी मोहन राकेश के लोकप्रिय नाटक 'आधे-अधूरे' के मंचन का। प्राइम टाइम कंपनी बम्बई द्वारा लिलेट दुबे के निर्देशन में उसे भोपाल के भारत भवन में मंचित होना था। इस प्रस्तुति के लिये रंगकर्मियों से लेकर शहर की साहित्यिक बिरादरी और अन्य दर्शक भी खासे उत्साहित थे। उत्साह मेरा भी कम नहीं था। कारण साफ था। अपनी पढ़ाई के दिनों में इस नाटक को जितना भी पढ़ा और समझा - सावित्री का चरित्र, एक अभिनेता द्वारा पाँच चरित्रों को निभाने की बात, एक मध्यम वर्गीय परिवार के रिश्तों का ताना-बाना, लेखक द्वारा चरित्रों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण आदि। 1969 में ओम शिवपुरी के निर्देशन में एन.एस.डी. में इसका पहला मंचन और अब हमारा पहली बार इसे मंच पर देखना। इन सबके साथ मन में एक और इच्छा थी, इस नाटक की निर्देशिका लिलेट दुबे और सिद्ध कलाकार मोहन आगाशे से संवाद कर पाना। अपनी जिज्ञासाओं को शांत कर उन्हें नई दिशा देना।

शो के दिन लगभग सुबह 11 बजे मैं भारत भवन के अंतरंग सभागार में पहुँची। इस समय नाटक का भव्य सेट तैयार किया जा रहा है और एक मध्यम वर्गीय परिवार में होने वाली तमाम चीजें मंच पर अभी अस्तव्यस्त पड़ी हैं। एक पुरानी ड्रेसिंग टेबल जिसके काँच में धुंधली शक्ल भी दिखाई नहीं देगी। पुरानी लकड़ी की अलमारी, बड़ा रेडियो, सोफा, किचिन का कुछ सामान और कुछ कपड़े। थोड़ी देर वहीं बैठ मैंने एक अनूठे सेट निर्माण की प्रक्रिया को महसूस किया। यह काम यहाँ सेट डिजाइनर और उनके साथियों द्वारा हो रहा है। सवाल मन में आया क्या मंच निर्माण और अभिनेता के बीच कोई रिश्ता नहीं, अभिनय करते समय मंच की कोई भी वस्तु से अभिनेता का कोई तारतम्य नहीं, यदि है तो कैसे?

बहरहाल, यही कोई आधे-पौन घण्टे बाद मैंने रुख किया जहाँनुमा होटल का। होटल के रिसेप्शन पर पहुँच अपना परिचय दे लिलेट जी से मिलने का आग्रह किया, लिलेट जी ने मुझे 1:30 बजे का समय दिया। मैंने तुरंत ही आगाशे साहब से मिलने के संबंध में अपनी जिज्ञासा जाहिर की। रिसेप्शनिस्ट ने मुझे सीधे ही रूम नं. तक पहुँचने का रास्ता बता दिया। मैं इसी असमंजस में थी कि बिना उनसे पूछे उस व्यक्ति ने मुझे भेज तो दिया है पर क्या इतनी ही सरलता से वो मुझसे मिलेंगे? मोहन आगाशे, पेशे से सायकायटिस्ट, मराठी रंगमंच, हिन्दी सिनेमा का एक

अच्छे नाटक का एक ही फंक्शन है सही सवाल खड़ा करना ताकि दर्शक जब रंगमंच से छूट के घर जाये तब भी भूल ना जाये, वो सवाल निरंतर उसके दिमाग में चलता रहे।

जाना माना नाम जिन्हें हमने, देऊल, मृत्युदण्ड, रंग दे बसंती आदि फिल्मों में एक उम्दा अभिनेता के रूप में देखा है। यदि उन्होंने इस व्यस्तता में इंकार कर दिया तो? सारे विचार मन में एक अजीब सा डर पैदा कर रहे थे। मैं उनके कमरे तक पहुँची और अपनी जिज्ञासाओं और उनसे एक मुलाकात की मेरी इच्छा को अपने डर पर हावी कर मैंने दस्तक दी। कमरे की पीली रोशनी में मेरे दाहिने तरफ सिर पर काली कढ़ाई वाली लाल मराठी टोपी और काली अचकन पहने, हाथ में छड़ी लिये मोहन आगाशे साहब बैठे हैं। उन्होंने मुझसे कुछ कहने से पहले ही मुस्कराकर मुझसे कहा- ''आइये मोहतरमा आपका आगमन किसलिये हुआ है?'' यह सुनते ही अचानक एक सहजता मेरे भीतर आई। अपना परिचय दिया। आगाशे साहब ने मुझे बैठने का इशारा करते हुए कहा- ''मैं एक नाटक की कहानी सुना रहा हूँ। तुम भी सुनो, अच्छी लगेगी तुम्हें। कुछ देर उस कहानी पर बात की जो स्त्री विमर्श पर केन्द्रित थी। मन्तव्य जानकर बातचीत शुरू की। उनकी शाम की प्रस्तुति पर भी कुछ संवाद हुए।

मेरा सवाल था- 'आधे-अधूरे' 1967 में लिखा गया, जो समाज में स्त्री के लिये संघर्षों से भरा दौर था, आज 'आधे-अधूरे' की समसामयिकता औचित्यपूर्ण है?

आगाशेजी ने कहा- मुझे लगता है कि ज्यादा कुछ बदलाव नहीं हैं मुझे लगता है ये। पहली बार नाटककार ने स्त्री को केन्द्र में रखते हुए नाटक लिखा है। नाटक में एक औरत और आदमी दोनों का ही जीवन को देखने का नजरिया, उसका बहुत ही दर्जेदार चित्रण इस नाटक में हुआ है। और वो भी चार पुरुषों के माध्यम से और एक ही औरत के माध्यम से किया गया है। ताकि औरत इस नतीजे पर पहुँचे कि सारे पुरुष मुखौटे हैं, अलग-अलग मुखौटे लेकिन चेहरा सबका एक। अंत में एक महत्वपूर्ण पंक्ति हैं जो जुनेजा सावित्री से कहता है कि आप हमेशा इतनी ही खाली रहती हैं, बेचैन रहती हैं यदि इनमें से किसी से भी आप शादी कर लेतीं। क्योंकि आपके लिये जिंदगी का मतलब ही अलग रहा है। आपको जीवन में हर एक चीज मिलने वाली नहीं है। मानव अपूर्ण है, पुरुष अपूर्ण है। वो उससे पूछता है- आप जगमोहन के साथ गई थीं क्या बात हुई, तब सावित्री कहती है- क्या आपको हक है जानने का। इस पर वो बता भी देता है कि क्या बातें हुई। और वो सभी बातें सच होती हैं। तब यह संवाद सावित्री कहती है- सभी पुरुष एक जैसे होते हैं।

किसी भी नाटक को पढ़ना और समझना दोनों अलग बातें हैं। यह कई स्तरीय नाटक है। जितने चरित्र हैं, रिश्ते हैं, सभी में स्तर हैं। एक पति और पत्नी का, माँ और बेटे का, माँ और बेटी का, भाई और बहन का। उन चरित्रों के वो स्वभाव कैसे बने होंगे। जीवन में इस तरह से इतने शेड हैं और ये सारे शेड्स मोहन राकेश ने जिस तरह से पकड़े हुए हैं अपने संवादों के जरिये, इससे ये नाटक को बहुत समृद्ध बनाता है। यह कोई मेसेज देने वाली बात नहीं, समझने वाली बात है। जीवन इतना जटिल ही है। जीवन ऐसा ही है। कौन सा नाटक अच्छा है- जो जवाब नहीं देता, सवाल खड़ा करता है। जवाब एक को ढूँढ़ना होता है। सवाल तो एक ही होता है, जवाब अलग-अलग होते हैं।

अच्छे नाटक का एक ही फंक्शन है सही सवाल खड़ा करना ताकि दर्शक जब रंगमंच से छूट के घर जाये तब भी भूल ना जाये, वो सवाल निरंतर उसके दिमाग में चलता रहे। सवाल साथ में लेकर घर जाये। यही एक अच्छे नाटक का उद्देश्य होता है।

आगाशे साहब से मिलने आये लोगों की आवाजाही लगातार बनी हुई थी। और मेरी जिज्ञासाओं और प्रश्नों को भाँप समय की कमी के चलते पर्याप्त समय में एक संपूर्ण संवाद करने का वादा करते हुए भोपाल में उनके अगले प्रवास पर मिलने को कहा। उनके वादे पर कोई संशय नहीं है क्योंकि कुछ दिन पहले मुझे मिले उनके ई-मेल से यह स्पष्ट है जो उनसे होने वाली अगली मुलाकात के संबंध में है।

एक कलाकार, कलाकार तब ही हो पाता है, जब वो एक अच्छा इंसान होता है। और मोहन आगाशे निश्चित ही एक उम्दा कलाकार हैं। बहरहाल मैं उनसे होने वाली अगली मुलाकात को दिल में लिये वहाँ से निकली पर इस मुलाकात की संपूर्णता तो उसी अगली मुलाकात में छिपी है।

तँवरघारी का लोक नाट्य

सुधीर आचार्य

लोक नाटक लोक जीवन की सरस अभिव्यक्तियाँ हैं नृत्य और संगीत इनकी नस-नस में व्याप्त है। बुन्देल खण्ड का स्वाँग, उत्तर भारत की नौटंकी, मालवा का माच, छत्तीसगढ़ का नाचा, तथा महाराष्ट्र का तमाशा इसके उदाहरण हैं।

'नाट्य शास्त्रम्' जैसे प्रौढ़ ग्रंथ की रचना से पूर्व लोक में नाटक प्रचलन में था। भरतमुनि ने अपने इस ग्रंथ के लिए आधारभूत सामग्री लोक-नाटकों से ली थी। (कीथ, संस्कृतड्रामा, पृ. 68) संस्कृत में नाटक 'रूपक' भी है। रूपक के दस और उपरूपक के 18 भेद माने जाते हैं। रूपक के कुछ भेदों-समवकार, व्यायोग, प्रहसन, भाण आदि को लोक शैली के रूपक माना जा सकता है। लोक नाटक लोक जीवन की अनुभूतिमयी अभिव्यक्तियाँ हैं नृत्य और संगीत इनकी नस-नस में व्याप्त है। बुन्देल खण्ड का स्वाँग, उत्तर भारत की नौटंकी, मालवा का माच, छत्तीसगढ़ का नाचा, तथा महाराष्ट्र का तमाशा इसके उदाहरण हैं।

तँवरघार का अपना निजी कोई लोक नाटक देखने में नहीं आया। बुन्देल खण्ड का स्वाँग, हाथरस-कानपुर (उ.प्र.) की नौटंकी, अवध की राम लीला और मथुरा की कृष्ण लीला तँवरघारी क्षेत्र में लोकप्रिय है। इसीलिए इनका विवेचन ही अभीष्ट है-

1. **स्वाँग :** स्वाँग को मूलतः बुन्देलखण्ड का लोक नाटक माना जता है। 'स्वाँग' दशरूपक के धनंजय की अवस्थानुकृति का देसी रूप है। किसी मूलपात्र की वेश-भूषा धारण करके, उसके हाव-भावों का प्रदर्शन ही स्वाँग है। असल की नकल होने के कारण ही 'स्वाँग भरना' मुहावरा प्रचलित हुआ। स्वाँग की परम्परा विक्रम की नवीं शती में मिलती है। सिद्ध कण्हपा के डोमिनी-आह्वान-गीत में उसका उल्लेख है। ''नगर बाहिरे डोंबी तोहारि कुड़िया छइ छोई जाइ सो ब्रह्म नाड़िया। आली डोंबि तोए समकरिब या साँग निघिड़ कण्हकपाली जाइ लाग। एक सौ पद्मा चौषट्ठि पाखुडि, तेहि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुडी।''

जायसी (पद्मावत, बादशाह इति खण्ड) स्वांग की चर्चा इस प्रकार करते हैं- ''पातुरि एक हुति संबागी/साह औनार हुत ओहि माँगी/जोगिनि भेस बियोगिनि कीन्हा/सींगा, सबद, मूल, तत लीन्हा/पद्मिनि पहँ पठई करि जोगिनि/बेगि आनु करि बिरह बियोगिनि।'' कबीर का स्वांग विषयक संकेत इस प्रकार है- ''तथा होय तँह श्रोता सोवै वक्ता मूड़ पचाया रे/होइ जहाँ कहीं स्वाँग-तमाशा, तनिक न नींद सताया रे।।

'आइने अकबरी' में अबुल फ़ज़ल ने लोक नाट्य की दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। एक कीर्तनियाँ परम्परा, जिसका विकास रास लीलाओं में हुआ। इसकी 'भगत' परम्परा, मिलती है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लेखनबद्ध स्वाँगों के प्रमाण मिलते हैं। डॉ. सरोजनी रोहतगी ने स्वाँग की दो शैलियाँ- हाथरस शैली और रोहतक शैली मानी हैं, किन्तु पंजाब को स्वांग की मातृ भूमि मानते हुए इसका विकास क्रम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-

''सन् 1800 ईसवी के बाद पंजाब से कामा होती हुई चौबाला शैली में स्वाँग गायन की एक परम्परा मथुरा में आई और वह उस समय के ख्यालगायकी के अखाड़ों-तुर्रा, कलंगी के माध्यम से यहाँ की जनता में बड़ी लोकप्रिय हो गई। नाट्य की इस लोक परम्पराओं को यहाँ 'संगीत' या 'भगत' के नाम से अपना लिया गया और ख्याल गायकों ने इस चौबाला शैली में जनता के लोक-रंजन के लिए अव्यावसायिक आधार पर अखाड़ों के माध्यम से पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता में भगत के लोकनाट्यों का प्रदर्शन आरम्भ कर दिया जो बड़े ही

तँवरघार में स्वाँगों का आयोजन विशेषतः विवाहोत्सवों में होता था। इनके श्रृंगार-रस का प्रधान्य होता था, जो कई बार फूहड़ता और अश्लीलता का संस्पर्श करता दीख पड़ता था। यहाँ के स्वाँगों में 'बाईयों' का भी प्रवेश हो गया था। प्रारम्भ में स्वाँग भरने वाले केवल पुरुष पात्र ही होते थे, जो आवश्यकतानुसार स्त्री पात्रों की भूमिकाएँ अदा किया करते थे।

लोकप्रिय सिद्ध हुए। महीनों के पूर्वाभ्यास के उपरान्त भगत के वह अखाड़े अपनी नवीन रचना जनता में प्रदर्शित करते, जो कभी-कभी 3 या 4 रात्रियों में पूर्ण होती थी और जब यह प्रदर्शन होते थे तो नगर के उस भाग में एक उत्सव जैसा उत्साह व वातावरण बन जाता था। हजारों दर्शक इन प्रदर्शनों को देखते तथा आस-पास के नगर व ग्रामों से भी सैंकड़ों दर्शन इन प्रदर्शनों को देखने जुड़ जाते थे। मथुरा, वृन्दावन में ऐसे कई भगत अखाड़े 19वीं शती में विद्यमान थे। आगरा में भी भगत की यह परम्परा अमरोहा से पहुँची और वहाँ भी भगत के कई अखाड़े बन गए, परन्तु मथुरा और आगरा की भगत-शैली की गायिकी में अन्तर था, जो आज भी विद्यमान है।

मथुरा-वृन्दावन से ही भगत की यह गायिकी हाथरस पहुँची और वहाँ भी इसके अखाड़े स्थापित हो गए। सबसे पहले वहाँ वासमजी के अखाड़े ने इस शैली में 'श्यहपोश' स्वाँग किया था, जो विदेशी कथानक पर रचित एक श्रृंगार रस प्रधान लोकनाट्य या संगीत (स्वाँग + गीत) था। हाथरस में इस विद्या को भगत नाम न देकर 'स्वाँग' कहा गया।'' तँवरघार में स्वाँगों का आयोजन विशेषतः विवाहोत्सवों में होता था। इनके श्रृंगार-रस का प्रधान्य होता था, जो कई बार फूहड़ता और अश्लीलता का संस्पर्श करता दीख पड़ता था। यहाँ के स्वाआँगों में 'बाईयों' का भी प्रवेश हो गया था। प्रारम्भ में स्वाँग भरने वाले केवल पुरुष पात्र ही होते थे, जो आवश्यकतानुसार स्त्री पात्रों की भूमिकाएँ अदा किया करते थे।

'स्वाँग' में भक्तिपरक लीलाओं-हरिश्चन्द्र लीला-ध्रुव-लीला आदि को भी स्थान मिला और 'अमर सिंह राठौर', सुल्तान डाकू, छबीली भटियारिन जैसी रोमांचक कहानियाँ भी नाट्य रूप में प्रस्तुत की गई। प्रारम्भ में स्वाँग का मंच खुला था। एक जगह दो-चार तख्त डालकर आयताकार चबूतरा-सा बना लिया, जिस पर स्वाँग भरने वाले बैठते थे और चारों ओर दर्शक। तब यह नुक्कड़ नाटक-सा था। बहुत कुछ अनौपचारिक। हरियाणा, मेरठ, मुजफ्फरनगर आदि में आज भी 'साँग' खुले मंच पर खेले जाते हैं। वूली और चन्दर के साँगों की इस क्षेत्र में धूम रही है। 'स्वाँग' पर पारसी रंगमंच का बहुत प्रभाव पड़ा। इसलिए राजाओं-महाराजाओं, रानियों-महारानियों, सैनिकों-सरदारों जैसी चमकीली भड़कीली पोशाकें, अस्त्र-शस्त्र, मुखौटे और मेकअप का प्रयोग होने लगा। मंच पर पर्दे प्रयुक्त होने लगे। शुद्ध मनोरंजन के स्थान पर व्यावसायिकता आने लगी। ग्राम-कला बाजारू होकर बिकने लगी। स्वांग के विकास में संगीत शिरोमणि पण्डित नथाराम गौड़ का महत्वपूर्ण योगदान है। इनके सहयोगियों में सदनलाल, बिहारीलाल, हीरालाल, जानकी प्रसाद, लछीराम, गनेशी लाल, गिर्राज किशोर, चुन्नीलाल, बाबू खाँ और भोलाराम बहुत प्रसिद्ध हुए।

स्वाँग में प्रायः हारमोनियम, ढोलक, मंजीरा, चिमटा और नक्कारा, बजाया जाता है। इन वाद्यों में भी दो प्रमुख हैं- हारमोनियम (तँवरघारी में पेटी) और नक्कारा सन् 1970 के आस-पास नक्कारा नौटंकी से जुड़ा और इसी के साथ विभिन्न क्षेत्रों के लोक संगीत से जुड़ता चला गया।

तँवरघार की लोकप्रिय मण्डलियों में पिनाहट (तहसील बाह, आगरा-उ.प्र.) की अन्नो-श्यामाबाई की मण्डली बहुत चर्चित रही है। सत्तर-साठ के दशक तक स्वाँग बारात ले जाने वाले वर पक्ष की अनिवार्यताओं में था। अब तो स्वाँग देखने में नहीं आते।

नौटंकी, लोकनाट्य- स्वाँग का ही एक भेद है। शैलीगत भिन्नता के आधार पर ही इसे स्वाँग से किंचित भिन्न मानते हुए अलग विवेचन किया गया है। सामान्यतः स्वाँग और नौटंकी पर्यायवाची माने जाते हैं। नौटंकी के विकास को उद्घाटित करते हुए श्री रामनारायण अग्रवाल लिखते हैं- ''हाथरस के प्रसिद्ध बलदेव के मेले के अन्तिम दिन, वहाँ प्रतिवर्ष नथाराम जी का एक नवीन स्वाँग विशेष तैयारी से मंचित होता था और वह इस मेले का प्रमुख आकर्षण था, जिसे देखने दूर-दूर से जनता उमड़ पड़ती थी। इस स्वाँग की तैयारी के लिए नथाराम प्रतिवर्ष श्रावण मास में अपनी मण्डली को कानपुर ले जाते थे। वहाँ मजदूरों की प्रमुखता होने के कारण नथाराम के स्वाँगों को देखने के लिए जनता दीवानी रहती थी। कानपुर में नथाराम रात को तो अपने स्वाँगों का प्रदर्शन करते थे और दिन में कलाकारों से उस नवीन स्वाँग की तैयारी कराते थे, जो उन्हें उस वर्ष बलदेव जी के मेले में करना होता था।

रात में स्वाँग समाप्त करके फटका सुनाने की भगत की परम्परा को भी नाथूराम जी ने चालू रखा। वे वहाँ नित्य नए फटके लिखकर कानपुर वालों को सुनाते थे कि यहाँ ऐसा कोई समर्थ व्यक्ति नहीं है जो कानपुर की जनता को स्वाँग करके दिखावे। यह फटके कविता में स्वाँग की समाप्ति पर गाए जाते थे जिन्हें सुनकर कानपुर के खयाल गायकों में बड़ी बेचैनी हुई। तब बंदी खलीफा और मैकू उस्ताद ने मिलकर एक स्वाँग लिखा और कानपुर में इसका प्रदर्शन किया। इस स्वाँग में बारह झील और एक नगाड़ा रखा गया। कुशल नक्कारे वादक

बारह झीलों पर चौब घुमाकर नक्कारे पर सटा देता था। कानपुर वालों ने इस खाले को नथाराम के लिए 'नव + टंकार' कहकर फटका सुनाया था। उन्होंने कहा, यह हमारी नौटंकी है, तुम भी ऐसा करके दिखलाओ। इस प्रकार नौटंकी के नाम से कानपुर में पहले स्वाँग का प्रदर्शन हुआ। बाद में पूर्वी उत्तर प्रदेश में इस परम्परा को नौटंकी कहा गया और इसका स्वरूप हाथरसी स्वाँग से काफी भिन्न हो गया।''

'नौटंकी' नाटक की एक लोक रंजक विधा है। इसके उन्नायकों में गुलाबबाई (पद्म श्री) का नाम स्मरणीय है। 'बहादुर लड़की' गुलाबबाई की सर्वाधिक चर्चित नौटंकियों में से एक थी। नौटंकी में बहरतबील, चौबाला, छन्द, गज़ल, आल्हा, लावनी, लंगड़ी-लावनी, कब्बाली, डेढ़तुकीका का लँगड़ा तथा भाड़ का गायन होता है। प्रसिद्ध नौटंकियों में 'पुकार', 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' तथा लैला-मजनूँ के नाम गिनाए जा सकते हैं।

नौटंकी में नक्कारा जुड़ जाने से इसकी प्रभविष्णुता बढ़ गई। ''सन् 1870 के आस-पास नक्कारा नौटंकी से जुड़ा हरियाणा के सांग लोक नाट्य तथा राजस्थान के ख्याल लोकनाट्य से जुड़ा और इसी के साथ विभिन्न क्षेत्रों के लोक संगीत से जुड़ता चला गया। मैं उपर्युक्त तिथि से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि संगीत शिरोमणि नथाराम का जन्म 1874 में हुआ था। नौटंकी दम तोड़ रही है। मेले-तमाशों को छोड़कर अब नौटंकी प्रचलन में नहीं है।

राम लीला : राम-कथा के विषय में आदि कवि वाल्मीकि जी लिखते हैं कि इस धरती पर जब तक पर्वत और नदियाँ रहेंगी, तब तक रामायण की कथा का प्रचार होगा। वस्तुतः राम कथा की व्याप्ति देश की सीमाएँ लाँघकर विदेश तक पहुँच चुकी हैं। थाइलैण्ड, कम्बोडिया, लाग्प्रोस, मलेशिया, इण्डोनेशिया, मारिशश, फिजी, सूरीनाम, ट्रिनीडाड, गयाना, कनाडा, हालैण्ड, ब्रिटेन, अमेरिका, रूस आदि देशों में राम कथा और रामलीला प्रचलित है।

'लीला' शब्द से प्रायः दो लीलाओं का बोध होता है- रासलीला और रामलीला, किन्तु इन लीलाओं के अतिरिक्त शिव लीलाएँ (64, तिह बिलैया इल पुराणम-तमिल) नारद-मोह लीला, नृसिंह लीला, ध्रुव लीला, वामन लीला, फाग लीला आदि भी लोक मंच पर मंचित की जाती है।

लोक नाटक का एक उद्गम ऋग्वेद के उन 15 सूक्तों में है, जिनमें इन्द्र और मरुत की ओर से दो दलों का वार्तालाप वर्णित है और दूसरा रामायण और महाभारत के गायकों में था।

नौटंकी, स्वाँग का ही एक भेद है। शैलीगत भिन्नता के आधार पर ही इसे स्वाँग से कुछ भिन्न मानते हुए अलग विवेचन किया गया है। सामान्यतः स्वाँग और नौटंकी एक दूसरे के पर्यायवाची माने जाते हैं। दुर्भाग्य से नौटंकी दम तोड़ रही है। मेले-तमाशों को छोड़कर अब नौटंकी प्रचलन में नहीं है।

रामलीला का प्रचलन तुलसी से पूर्व ही हो गया था। भारत में रामलीला का शुभारम्भ सर्वप्रथम अयोध्या में हुआ। यहाँ रामलीला की नींव रामानन्दीय साधु भगवान दास ने, 'अवध आदर रामलीला मण्डल' के गठन से रखी। अवध-रामलीला के विकास में अयोध्या नरेश-ददवा महाराज का उल्लेखनीय योगदान है। महाराजा ने आज से लगभग 162 वर्ष पूर्व (सन् 1837) में रामलीला-मंच का निर्माण कराया और इसे आधुनिक रूप दिया। सन् 1869 में मास्टर रामदेवदास ने 'आदर्श रामलीला मण्डल' को पुनर्जीवित किया। संत जयरामदास जी के अनुसार प्रारम्भ में लीलाओं का स्वरूप मैदानी था जो बाद में मंचीय और झांकियों का हो गया।

अवध की रामलीला अपने मौलिक रूप को सँभाले हुए है क्योंकि यह परम्परानुगामी रही है, प्रयोगधर्मी नहीं। रामलीला का उद्देश्य धार्मिक है। श्री रामचन्द्र जी के आदर्शों की शिक्षा-देना इसका उद्देश्य है। इस लीला का वैशिष्ट्य ही इसकी सहजता और अकृत्रिमता है।

काशी की रामलीला गोस्वामी तुलसीदास से जुड़ी है। तुलसीदास ने हनुमान फाटक में रहकर 'आदि रामलीला' - लाट भैख आरम्भ कराई। अस्सी घाट पर आकर 'रामचरितमानस' के आधार पर उन्होंने स्वयं रामलीला का संगठन किया। इनके समकालीन मेधा भगत ने चित्रकूट की रामलीला रामचरितमानस के आधार परकरानी शुरू की। काशी और रामनगर की लीलाओं का आदर्श गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रवर्तित लीला स्वरूप ही रहा।

काशी और अयोध्या की रामलीलाएँ विशुद्ध रूप से भक्ति-भाव से ओत-प्रोत हैं। इनमें लोक रंजन की अपेक्षा लोक परिष्करण अधिक होता है।

भगवान श्री कृष्ण जी की जन्मस्थली में रामलीला, कुछ विरोधाभास-सा जान पड़ता है, किन्तु है नहीं। श्री कृष्ण-जन्म पूर्व से सूर्यवंश भगवान राम और मथुरा का संबंध है। मथुरा सूर्यवंश की राजधानी थी। लक्ष्मण पुत्र लवण के अनाचारों से प्रजा की रक्षा करने के लिए भगवान श्री राम ने शत्रुघ्न को मथुरा भेजा था। शत्रुघ्न ने मथुरा को जमुना-तट पर अर्द्ध चन्द्रकार बसाया। साम्बूक का वध करने के पश्चात् श्री राम मथुरा आए थे। यमुना का रामघाट इसका प्रमाण है। मथुरा में राम-कृष्ण समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। नन्दनदास और तुलसी के काव्य इसके प्रमाण हैं।

मथुरा की रामलीला अयोध्या और काशी से अर्वाचीन है। वि.सं. 1897 में मथुरा की सैनिक छावनी में बिहार की किसी मण्डली द्वारा यहाँ पहली बार रामलीला शुरू हुई थी। इससे

मथुरा की रामलीला युग-बोध से जुड़ी रही है। समय-समय पर अपने प्रदर्शन और शैलियों में बदलाव करती रही है। उदाहरणार्थ पहले रामलीला का शुभारंभ 'नारद-मोह लीला' से होता था। सन् 1948 में इसमें शिव-विवाह तथा 1952 से तुलसी-चरित लीलाएँ भी जोड़ दी गई हैं।

भौघाट निवासी वाग्भट्ट जी को प्रेरणा मिली और उन्होंने मथुरा की पहली रामलीला प्रारम्भ की। उत्साद मनियाँ भट्ट जी तथा राधा कृष्ण वैद्य जी ने रामलीला के विकास में बहुत योगदान दिया। वैद्य जी ने इस लीला को तंत्र द्वारा सिद्ध किया, इसलिए मथुरा की रामलीला 'सिद्ध लीला' कहलाती है।

मथुरा की रामलीला युग-बोध से जुड़ी रही है। समय-समय पर अपने प्रदर्शन और शैलियों में बदलाव करती रही है। उदाहरणार्थ पहले रामलीला का शुभारंभ 'नारद-मोह लीला' से होता था। सन् 1948 में इसमें शिव-विवाह तथा 1952 से तुलसी-चरित लीलाएँ भी जोड़ दी गई हैं। यहाँ की लीलाओं में संवादों की बजाय प्रदर्शन की भव्यता पर विशेष जोर दिया जाता है।

दिल्ली की अब अपनी कोई लोक संस्कृति नहीं है। इसलिए दिल्ली की रामलीला को लोकमंच की अक्षुण्णता से कोई सरोकार नहीं है। प्रारम्भ में यहाँ की लामलीला पर अयोध्या और काशी-शैली का प्रभाव था, जो अब समाप्त प्राय हो चुका है। दिल्ली का रंग-मंच प्रयोग धर्मी है। अब यहाँ सूत्रधार की संवाद शैली की लामलीला का विस्तार हो रहा है।

तँवरघार का एक सर्वेक्षण बताता है कि यहाँ रामोपासकों की संख्या सर्वाधिक है। रामचरितमानस के अखण्ड पाठ और सुन्दरकाण्ड के पाठों की ध्वनि प्रायः नित्यप्रति कानों में गूँजती रहती है। अवसर कोई भी हो सकता है- जन्म, विवाह, मनोकामनाओं की पूर्ति आदि। इसलिए रामलीला का प्रचलन यहाँ पर्याप्त है। रामकथा-मंचन के दो रूप यहाँ दिखाई देते हैं। एक-गाँव-जवार में फैली शौकिया रामलीला मंडलियाँ जिनके कलाकार अवैतनिक और अव्यावसायिक होते हैं। ये कलाकार एक ही गाँव अथवा आस-पास के गाँवों के निवासी होते हैं और रामलीला के समय स्वेच्छा से अभिनय हेतु उपलब्ध हो जाते हैं। इसके पीछे भक्ति भावना ही होती है। यश और धन की लालसा से प्रायः ये कलाकार मुक्त होते हैं। इनका संगठन भी ढीला-ढाला सा होता है। कलाकार स्वेच्छा से इसमें आते-जाते रहते हैं। जी चाहा शामिल हो गए, असुविधा हुई, अलग हो गए। धन और संसाधनों की दृष्टि से ऐसी मंडलियाँ प्रायः अभावग्रसित होती हैं। व्यक्तिगत प्रयास, और भक्ति-भावना के साथ लोक-सहयोग से ये रामलीला सम्पन्न करा पाती हैं। दूसरी- रामलीला की व्यावसायिक मंडलियाँ हैं, जिनमें कलाकारों को पारिश्रमिक दिया जाता है। ये मंडलियाँ अपनी-अपनी ख्याति के अनुसार निश्चित राशि के लिए निश्चित दिनों (लगभग 8-10 दिन) तक रामलीला मंचित करती है।

तँवरघार में व्यावसायिक मण्डलियाँ आगरा, मथुरा, अयोध्या और बनारस से आमंत्रित की जाती हैं। अयोध्या और बनारस की मण्डलियाँ यहाँ अधिक सफल इसलिए नहीं हो पातीं, क्योंकि 'अवधी' सहजता से पल्ले नहीं पड़ती।

रास लीला : रासलीला का सम्बंध भगान श्री कृष्ण की लीलाओं से है। कृष्ण-लीलाओं का आधार श्रीमद्भागवत है। 'रास' लोक का प्राचीन नृत्य नाट्य है, जिसका सम्बन्ध गौचारण से है। संस्कृत और अपभ्रंश ग्रंथों में 'रास' और 'चर्चरी' का उल्लेख मिलता है। कृष्ण चारागाही संस्कृति से उपजे देवता हैं, इसलिए 'रास' का उन्मेष भी चारागाही संस्कृति से ही हुआ।

'रास' के लिए, 'रसानां समूहो रास', (रसों का समूह ही रास है) व्युत्पत्ति प्रसिद्ध है। 'रास' को 'रहस' - एकान्त आनन्द का वाचक

भी माना जाता है। हरिवंश पुराण में 'हल्लीसक क्रीडन' को रास क्रीड़ा का समानार्थक माना गया है। आचार्य वल्लभ की मान्यता है कि जिसमें बहुत-सी नर्तकियाँ हों, वे नाचक करें और रस की अभिव्यक्ति होती हो, इसी रस युक्त नृत्य का नाम रास है।

श्री मद्भगवत में रास को आध्यात्मिक धरातल पर चित्रित किया गया है। यह कृष्ण और गोपियों का साधारण रमण नहीं, अपितु आत्माराम कृष्ण का अपनी ही तदाकार वृत्तियों के साथ रमण है। 'रासलीला' उस महासुख की अनुभूतिमयी अभिव्यक्ति है, जो भगवान श्री कृष्ण और उनकी आत्मरूपा गोपियों की क्रीड़ाओं, लास्य और नृत्य से उत्पन्न होती है। 'रास-लीला' का अर्थ-विस्तार हुआ और इसमें भगवान कृष्ण की बहुत-सी लीलाओं को सम्मिलित कर लिया गया। इनमें 'अवतार लीला, माखन-लीला, गौचारण लीला, गोवरधन लीला आदि का मंचन होता है। रास को ऋतुओं के आधार पर दो प्रकार का माना जाता है- ग्रीष्मकालीन रास और शारदीय रास। जहाँ तक रास के मंचन का प्रश्न है, यह प्रकृति का उन्मुक्त प्रांगण ही था। आगे चलकर इसे मंचीय रूप प्रदान किया गया।

पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन का प्रचार-प्रसार हुआ। वि.सं. 1535 की वैशाख, कृष्ण एकादशी (रविवार) को आचार्य वल्लभ का जन्म हुआ। आचार्य अपनी द्वितीय पृथ्वी-प्रदशिक्षणा (1548-1554) में भ्रमण करते हुए मथुरा और गोवर्धन भी पधारे। रासलीला के विकास में आचार्य वल्लभ का योगदान महत्वपूर्ण है। आपने रास-लीला को मंचीय रूप दिया और इसे चरित-अनुकरण, गायन-वादन की अनुरंजनकारी भिक्तिका पर अवस्थित किया। वि.सं. 1602 में गो. विट्ठलनाथ ने अष्ट छाप की स्थापना की। इससे कृष्ण काव्य का उत्कर्ष हुआ। गोवर्धनधारी कृष्ण की सेवा पूरे आडम्बर के साथ होने लगी। गोसाइयों की आगत पीढ़ियों ने आचार्य वल्लभ की रासलीला परम्परा का संरक्षण किया।

रामलीला की तरह रास लीला प्रारम्भिक रूप खुला मंच और उद्देश्य रसेश्वर कृष्ण की लालाओं का रसपान कराना था। मंचीय रूप और प्रस्तुतीकरण-शैली में तो अन्तर दीख-पड़ता है, किन्तु उद्देश्य में कदाचित बहुत अन्तर नहीं आया है। आज भी गोकुलिए गोसाई रास-लीला के कलाकारों-'स्वरूपों' में भगवान कृष्ण और उनके परिवार की भावना रखते हैं। पूज्यभाव से सम्मानित करते हैं। आचरण और खान-पान की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते हैं। मथुरा में रासलीला की बहुत-सी व्यावसायिक मण्डलियाँ कार्यरत हैं। कई की ख्याति देश की सीमाएँ लाँघ विदेशों तक पहुँची है।

रासलीला में मंचित लीलाएँ प्रायः भागवत-कथा के आधार पर प्रस्तुत की जाती हैं। मंच सुसज्जित और भव्य होता है। स्वरूपों की पोशाकें गहरे चटख रंगों वाली और चमकदार होती हैं। इनमें गोटा, कलाबत्तू, जरी, सितारे आदि जड़े रहते हैं। वाद्यों में वेणु (बाँसुरी), मृदंग, तबला, हारमोनियम और मंजरी का प्रयोग होता है। गायन में संस्कृत छन्द (श्लोक) और रसिया प्रमुख हैं। कवित्त और सवैया भी अक्सर सुनने को मिलते हैं। रासलीला, नाटक कम धार्मिक अनुष्ठान अधिक रहा है।

तँवरघार में रास-लीला के लिए प्रायः मथुरा से मण्डलियाँ आमंत्रित की जाती हैं। स्वैच्छिक मण्डलियाँ यहाँ नहीं मिलतीं। भाद्रपद कृ. अष्टमी - जन्माष्टमी के पावर पर्व पर रासलीला देखना, उसे आयोजित कराना एक पुण्य-कार्य माना जाता है।

श्रीमद्भगवत में रास को आध्यात्मिक धरातल पर चित्रित किया गया है। यह कृष्ण और गोपियों का साधारण रमण नहीं, अपितु आत्माराम कृष्ण का अपनी ही तदाकार वृत्तियों के साथ रमण है।

लोकनाट्य और भिखारी ठाकुर

अंगद कुमार सिंह

लोक रंगकर्मी 'भिखारी ठाकुर' अपनी विशिष्ट लोक अभिनय शैली के कारण नामधारी एक संज्ञा न होकर मिथ बन चुके हैं। खास बात यह कि वे अपने जीवन काल में ही दर्शकों और श्रोताओं के लिए मिथक बन चुके थे।

'बिदेसिया' नाटक से अपने नाट्यकर्म का आगाज़ करने वाले 'भिखारी ठाकुर' के बारे में यह किसे पता था कि एक साधारण हज्जाम (नाई) के घर में पैदा होने वाला बालक आगे चलकर समाज को अपने नाटकों के माध्यम से नयी दिशा देगा तथा 'रायबहादुर पद' एवं 'पद्मश्री सम्मान' तक की यात्रा तय करेगा।

'भिखारी ठाकुर' का जन्म बिहार प्रांत के 'सारण' जिलान्तर्गत दियरा क्षेत्र में बसे 'कुतुबपुर' गाँव में हुआ था। इनका बचपन खेलकूद और चरवाही में बीता तथा बड़े होने पर जातिगत पेशे (हजामत करना, शादी ब्याह में निमंत्रण बाँटना) में गये। बचपन में विवाह हो जाने के कारण आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो गयी, जिसके कारण आपको रोजी-रोटी के लिए कलकत्ता जाना पड़ा। प्रवास के दौरान ही मेदिनीपुर और जगन्नाथपुरी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा वहाँ पर रामलीला, जात्रा आदि देखने का मौका मिला। इस यात्रा ने आपके जीवन को झकझोर कर कुछ नया करने के लिए प्रेरणा देने का कार्य किया, जिसके परिणाम स्वरूप आप कुछ नया करने के लिए सोचने लगे। उम्र के मध्य में आप कलकत्ता से वापस अपने गाँव लौट आये तथा कलात्मक रूझान वाले लोगों को खोजकर एक नाच-गिरोह तैयार किया। इसी को अपने रोजगार का माध्यम भी बना लिया। इसी समय आपकी प्रतिभा जो प्रसुप्त हो गयी थी, अनुकूल अवसर पाकर प्रस्फुटित होने लगी। आपने विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर अपनी लेखनी की धार को बखूबी चलायी तथा उससे अनेक नाटकों का सृजन हुआ। बिदेसिया, बेटी बेचता, गबर घिचोर, गंगा स्नान, बूढ़शाला का बयान, पुत्र-वध नाटक, ननद भौजाई, घी चोर, जयहिन्द, देवर-वध, पति वध, भिखारी, जयहिन्द आदि।

'भिखारी ठाकुर' का 'बिदेसिया', नाटक इतना प्रसिद्ध हुआ कि लोग इसको देखने के लिए 15-20 मील पैदल चलकर आते थे। इस पर 'बिदेसिया' नाम की फिल्म भी बनी थी, जो हिट भी हुई। इसकी प्रसिद्धि का आलम यह था कि अनेक लोगों ने अपने नाटक - मण्डली का नाम भी बिदेसिया रख लिया। इस नाटक की कथा संक्षेप में इस प्रकार है- नाटक का आरम्भ 'वन्दना' से होता है। इसके बाद पति-पत्नी मंच पर आते हैं। पति आगे बतलाता है कि उसका एक मित्र रंगून से कमाकर लौटा है, उसकी शान-शौकत देखकर मेरी भी इच्छा है कि रंगून कमाने जाऊँ। पत्नी उसको जाने से इंकार कर देती है, परन्तु एक दिन दोस्त से मिलने के बहाने वह भाग जाता है। पत्नी रोती है तो एक बटोही आता है और वह बतलाता है कि मैं पूरब देश जा रहा हूँ। इस बात को सुनकर पत्नी अपना मर्म खोल देती है और बताती है कि उसका पति भी वहीं गया है। 'बटोही' सब हालचाल पूछकर चल देता है। यह सुनकर बिदेसी वापस अपने घर आ जाता है और दोनों का सुखद मिलन हो जाता है।

'भिखारी ठाकुर' ने 'बिदेसिया' नाटक में लोकजीवन से ही अपने सभी उपमानों, उत्प्रेक्षाओं, बिम्बों का चयन किया है। वियोगिनी पत्नी बटोही से पति की हुलिया का जो वर्णन करती है, वह किसी भी महाकवि के 'नख-शिख' वर्णन से कमतर नहीं है। वह कहती है-

हमरा बलमुजी के बड़ी-बड़ी अंखियाँ से,
चोखे-चोखे बाड़े नयनां कोरे रे बटोहिया।

'बटोही' रंगून पहुँचकर विदेशी के मिलने पर उसकी विवाहिता एवं वियोगिनी पत्नी के 'नख-शिख' का वर्णन करके कहता है कि उसकी छहरी काया है, केश नागिन की तरह, आँख आम के फाँक की तरह तथा गाल गुलनार की तरह हैं-

तोरी धनी बाड़ी रामा अँगवा के पतरी से,
गलवा सोहेला गुलेनार रे बटोहिया।

पति के वियोग में रूपवती नायिका वन के कोयल की तरह से हो गयी है तथा चारों ओर कुहुकती फिर रही है- 'तोरा धनी भइली रामा वन के कोइलिया से।' ग्रामीण नायिका में लज्जा और संकोच कूट-कूट कर भरा रहता है, एतदर्थ वह अपने बारे में किसी से कुछ भी कुछ नहीं कह सकती है। फिर भी वह कहती है कि जब दिल का दर्द (क्लेश) दूर करने वाला प्रियतम स्वयं दूर चला गया है, तो यह जवानी तो स्वाभाविक तौर पर बैरन बन ही जायेगी-

चढ़ली जवनियाँ बैरन भैली हमरी से,
के मोरा हरिहें क्लेश रे बिदेसिया।

प्रियतम का इंतजार करते दिन पर दिन बीतता चला जा रहा है और रातें गुजरती चली जा रही हैं, फिर भी पति नहीं आया। बसंत का आगमन हो गया है तथा शरीर रूपी आम में बौर एवं टिकोरा लगना प्रारंभ हो गया है। दिन बीतने के साथ यह पोला हो जायेगा और एक दिन ऐसा आयेगा कि यह डाल-पात के साथ गिर जायेगा-

एक दिन बहि जइहें जुल्मी बेयरिया से,
डाल-पात जइहें भहराई रे बटोहिया।।

'बिदेसिया' की नायिका अंत में कहती है कि हे निर्मोही पति। मैं तुम्हारे ही कारण अब भभूति लगाकर धूनि रमाऊँगी। तभी तो बटोही रंगून जाकर विदेशी से कहता है कि ऐसी सती साध्वनी वियोगिनी स्त्री की सुधि भूल जाने वाले ये विदेशी तुम्हें धिक्कार है-

अइसन तिरियवा के सुधि बिसरवले से,
तोहरे के हवे धिक्कार रे बिदेसिया।

'भिखारी ठाकुर' ने बेटी वियोग नाटक लिखकर बेटी बिक्री की प्रथा को समाप्त करने का काम किया। 'बेटी वियोग' में 'भिखारी ठाकुर' ने ऐसा चित्र खींचा है कि जिसे देखकर पत्थर-हृदय भी पिघल जाता है-

रूपया गिनाई निहल, पगहा धराई दिहल।
चेरिया से छेरिया बनवल हो बाबूजी।।

सनातन धर्म में बेटी को गाय के समान माना जाता था। उसे जिस भी दूल्हे रूपी खूँटे से बाँधा जाता था, वह उफ तक नहीं करती थी। इस नाटक में बड़े वर से लड़की की शादी पैसा लेकर पिता कर देता है। शादी के बाद उसका पति बीमार पड़ जाता है। पिता जब बेटी के घर जाता है तो वह अपनी स्थिति का बयान बड़ी संजीदगी से करती हुई कहती है-

बूढ़ वर से कइल बियाह, बेटी के ना रखल खेयाल,
पुरुष क कवन कसूर हो बाबूजी।
कफ से भरल बाड़ी, रात दिन होखे ला जाड़ी,
हिलिया काढ़त दिनवा बीतेला हो बाबूजी।

यह स्थिति किसी एक स्त्री की न होकर बल्कि बूढ़े व्यक्ति से ब्याही गयी उन सभी स्त्रियों की होती है। आम आदमी जो उनका नाटक देखने के लिए नहीं जा पाता था, उनको भी इस नाटक के कथानक ने परोक्ष रूप से बेटी बेचने की प्रथा से घृणा उत्पन्न कर दिया।

'विधवा' की समस्या पर भी 'भिखारी ठाकुर' ने अपनी लेखनी चलायी। शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार स्त्री के पूर्व जन्म के पाप के कारण उसका पति मर जाता है। वह विधवा हो जाती है। पहले विधवा होने पर स्त्री के ऊपर बड़े जुल्म ढाये जाते थे, लोग उसकी परछाई तक अपने ऊपर नहीं पड़ने देना चाहते थे। मुँह देखने की बात तो दूर की थी। वह उपेक्षिता की तरह घर के कोने में पड़ी रहती थी और मैली-कुचेली सफेद साड़ी पहनती, एक बार उसे खाना दिया जाता था। पहले की व्यवस्था में पति की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं होता था, उसकी कहीं भी इज्जत नहीं होती थी, न ससुराल में और न मायके में। उसी सच को 'भिखारी ठाकुर' ने अपने नाटक 'विधवा-विलाप' में बहुत ही करीने से उकेरा है, विधवा की दुर्दशा सगा भतीजा करता है।

'भिखारी ठाकुर' ने सामाजिक कुरीति 'नशापान' की समस्या को अपने नाटक का आधार बनाया तथा 'कलयुगी प्रेम' का प्रणयन किया। इसमें यह दिखाया गया है कि जब व्यक्ति को नशे करने की लत लग जाती है तो वह अपना घर, कर्तव्य लोक-लाज ब कुछ भूल जाता है।

'गबर घिचोर' का आधुनिक समय में सबसे अधिक मंचित होने वाला नाटक है। इसमें नाटककार ने सारे नियमों और परम्पराओं को तोड़ते हुए तथा मानवीय संवेदनाओं को कुरेदते हुए दिखाया है कि संतान पर सबसे अधिक अधिकार माँ का होता है। पुरुष प्रधान समाज में ऐसा नाटक लिखना नदी की धारा मोड़ने जैसा काम था। 'भिखारी ठाकुर' के अधिकांश नाटकों की विषयभूमि नारी समस्या ही रही है। नारी में मनोविज्ञान के 'भिखारी' पारखी थे, एतदर्थ वे नारी-समस्या को अपने नाटकों में सहजता से समाहित कर लेते थे।

'भिखारी ठाकुर' ने एक तरफ नाटकों के माध्यम से समाज में प्रचलित तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक बुराईयों पर कबीर की भाँति बेबाकी में कुठाराघात कर सुधारा। तो दूसरी तरफ द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी नाट्यमण्डली से प्रस्तुत नाटकों में मिले पचास हजार रुपये अंग्रेज सरकार के 'युद्ध फण्ड' में दान देने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इनके इस महान कार्य से प्रभावित होकर अंग्रेजी सरकार ने 'राय बहादुर' के खिताब से नवाजा। वहीं स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने इनकी लोकसाधना और अवदान की सराहना करते हुए 'पद्मश्री' से सम्मानित किया।

लोक से बढ़ कर कुछ नहीं

रंगकर्मी अरुण पाण्डे से आनंद सिन्हा का संवाद

आज की भागती-दौड़ती दुनिया में किसी चीज़ की प्रासंगिकता शेष नहीं है। बस, संवेदना की और शब्द की दरकार है। संवेदना की इसलिए कि वही तो हमें द्रवित करती है और शब्द की इसलिए कि इसके बगैर तो कुछ भी व्यक्त नहीं हो सकता। और शब्दों के चितेरों को हम सम्मान नहीं देंगे तो ईसुरी क्या, तुलसी, कबीर, जायसी, रहमान, रसखान सब विलुप्त हो जाएँगे और विलुप्त हो जाएगी इस धरती से कविता।

मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के विद्यार्थियों का भ्रमणशील प्रशिक्षण कार्यक्रम डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में एक अंतराल पहले सागर (मध्यप्रदेश) में संचालित हुआ था। प्रसंगवश ईसुरी के जीवन व संघर्ष पर आधारित नाटक 'हंसा उड़ चल देश बिराने' को तैयार करने के लिए जबलपुर से रंगकर्मी अरुण पाण्डेय को आमंत्रित किया गया। करीब 25 बरस पहले संगीत नाटक अकादमी के राष्ट्रीय नाट्य समारोह के लिए अरुण पाण्डेय की इस कृति का चयन किया गया था। लंबे समय के बाद इसी नाटक को एक सीमित अवधि में तैयार करने की चुनौती और उससे जुड़े संदर्भों को लेकर उनके साथ संवाद हुआ।

आनंद - लोक पर आधारित नाटकों की प्रस्तुतियाँ चमक दमक के इस दौर में विस्मतृत होती जा रही हैं। ऐसे में लोक कवि ईसुरी के जीवन पर रची गई आपने नाट्य प्रस्तुति 'हंसा उड़ चल देस बिराने' की क्या प्रासंगिकता है?

अरुण पाण्डे - आज के विश्व बाज़ार में प्रतिस्पर्धा और बाजार की चुनौतियों अर्थात् अपने उत्पादक को बनाए रखने की चुनौती ही बहुत बड़ी है। अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बुन्देलखण्ड अभी भी विश्व बाजार से अछूता है। गायन, वादन, नृत्य और शब्द की दृष्टि से इस क्षेत्र में वह काम नहीं हुआ जो अपेक्षित है। आज के एस.एम.एस. के दौर में पली बढ़ी पीढ़ी को पता ही नहीं है कि प्रेम और प्यार के कितने रंग हैं। इस पीढ़ी को तो यह भी नहीं मालूम है कि पहनावे, बोलचाल, वाद्य-वृन्द और लोक वाद्यों की क्या जरूरत बची है? सागर की कार्यशाला के दौरान माँग और आपूर्ति का संतुलन देखने में आया। ढेरों प्रसंग हैं जहाँ हमें यह पता चला कि यह चीज तो अब बनती ही नहीं है। हमने उसे बनवा कर उस कला के अंतिम जानकार को वर्तमान पीढ़ी से परिचित कराया। आज के आधुनिक जिम और फिजीकल फिटनेस के जमाने में पटा, बनेटी, लाठी, ढेरा की कोई प्रासंगिकता नहीं है, कहकर इन कलाओं को नजरअंदाज किया जाना इन कलाओं के साथ अन्याय है।

मेरा तो यह मानना है कि जो चीज जितनी दुर्लभ और अप्राप्त होती है, उसी का आज विश्व मूल्य है। विलुप्त संस्कृतियों पर शोध जारी है। आज राई, बरेदी और आल्हा पर विश्व भर में रिसर्च हो रहे हैं और गुणीजन खजुराहो देखने के बहाने बुन्देलखण्ड को देखने आ रहे हैं। भाई शिवरतन ने 400 लड़कियों के माध्यम से बुन्देलखण्ड के सैकड़ों संस्कारगीत आकाशवाणी के लिए संरक्षित कर लिए हैं। स्वाति, श्वेता, अर्चना, प्रगति, वसुधा, स्मिता, सिल्की, रिया आदि ने राई नृत्य की बारीकियों को बगैर उसके पेशे की जटिलता के भी जान लिया है अर्थात् नृत्य, संगीत, गीत सब संरक्षित और संवर्धित हो रहा है। इसमें कई लोग लगे हैं। इनमें मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के व्यक्ति भी जुड़ गए हैं। यह मेरे लिए बड़ी उपलब्धि की बात है।

रही बात प्रासंगिकता की तो आज भी भागती-दौड़ती दुनिया में किसी चीज की प्रासंगिकता शेष नहीं है। बस, संवेदना की और शब्द की दरकार है। संवेदना की इसलिए कि वही तो हमें द्रवित करती है और शब्द की इसलिए कि इसके बगैर तो कुछ भी व्यक्त नहीं हो सकता। व्यक्त होना ही आज की जरूरत है। बाजारवाद में शब्द ही हैं जो उसकी बैसाखी हैं। ''ठण्डा मतलब कोकाकोला'' से लेकर 'जो खरा है, कभी नहीं बदलता' तक शब्द ही शब्द हैं। और शब्दों के चितेरों को हम सम्मान नहीं देंगे तो ईसुरी क्या, तुलसी, कबीर, जायसी, रहमान, रसखान सब विलुप्त हो जाएँगे और विलुप्त हो जाएगी इस धरती से कविता। कविता, जिसके बारे में न जाने क्या-क्या कहा गया है पर असल चीज है कि कविता मनुष्य को, विजय पथ पर अग्रेषित करने के लिए बहुत बड़ी ऊर्जा है।

ईसुरी की प्रासंगिकता हमें अहसास दिलाती है कि हमारी परम्पराओं और लोक की क्या ताकत है। हजारों साल की सामंती गुलामी और गरीबी से जूझ रहे करोड़ों लोगों को इन्हीं गीतों, नृत्यों और शब्दों ने जीने का संघर्ष और नैतिकता का पाठ पढ़ाया। लोक कवियों के शब्द के मर्म

को समझ कर करोड़ों लोगों ने खेती किसानी से लेकर अपने जीवन व्यवहार को सामाजिक ताने बाने में न केवल बांधा बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी उसे सहेज कर आज तक बचा के रखा। ईसुरी, घाघ और भरथरी की परम्परा के कवि हैं और कवि हैं प्रेम के जिसकी कमी चारों ओर के जीवन व्यवहार में दिखाई पड़ रही है।

नाटक नाटक से जुड़े भ्रमणशील प्रशिक्षण कार्यक्रम की अवधारणा क्या है?

मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय की स्थापना के उद्देश्यों में यह बात स्पष्ट उल्लेखित है कि वह भारत के मध्य में स्थित एक ऐसे नाट्य विद्यालय की परिकल्पना है जो राष्ट्रीय मानकों के आधार पर छात्रों का प्रवेश और अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था दे के श्रेष्ठ रंग गुरुओं के द्वारा हो, साथ ही विद्यालय की स्थापना का उद्देश्य रंगमंच, कला को उद्यम के रूप में कला को अपनाने के लिए छात्रों को प्रेरित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की व्यावहारिक निपुणताओं का विकास तथा समग्र ज्ञान की आवश्यकता है। यहाँ समग्र ज्ञान का अर्थ है क्षेत्र विशेष की भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, जैविक और ऐतिहासिक स्थितियों का समग्र अध्ययन।

“राई, बरेदी, ढिमरयाई, कनड़ा और कथागायन की अनगिनत लोक परम्पराएँ आज भी एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ तक पहुँचकर वाचिक परम्परा को सार्थक कर रही है। संस्कार गीतों की तो एक पूरी की पूरी श्रृंखला मध्यप्रदेश में आज भी जीवित है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक को गीतों में बयान कर देती है। आखिर इन्हीं लोक उपस्थितियों से ही तो शास्त्र की उत्पत्ति होती है। नाट्यशास्त्र भी आखिर है क्या, देश की आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक प्रवृत्तियों का समुच्चय।”

मध्यप्रदेश इस मायने में विरल है जहाँ यह क्षेत्रफल की दृष्टि से अपनी विशालता को स्वतः प्रमाणित करता है। वहीं क्षेत्रीय विविधता की दृष्टि से भी यह विरल है। वन, पर्वतों और नदी सभ्यताओं के बीच यहाँ का जीवन खण्ड-खण्ड है। कहीं बुन्देलखण्ड है तो कहीं बघेलखण्ड है। कहीं मालवा है, तो कहीं निमाड़ है। बीच में नवाबी भोपाल और गंवार आदिवासियों का कुण्डम, डिण्डोरी, बैजाग और मण्डला तो है ही। पूर्व के गोण्डवाना राज्य के अवशेष जहाँ-तहाँ मिलते ही रहते हैं। सागर, छतरपुर, दमोह, टीकमगढ़ पन्ना आदि को मिलाकर बुन्देलखण्ड की परिकल्पना की गई है।

साहित्य, संस्कृति और लोक कलाओं से भरपूर इस भूमि के बारे में क्या कहा जाए, कविता के पूर्व पुरोधा आदि कवि बाल्मिकी, गोस्वामी तुलसीदास रीतिकालीन कवि आचार्य केशव इसी भूमि के हैं। संगीत के महान पुराधा तानसेन और बैजू बावरा की जन्मस्थली यहीं की है। लोक कवि ईसुरी, ख्यालीराम के साथ-साथ लोक गायकों को रोजी रोटी दिलाने वाले आल्हा के रचयिता जगनिक की भूमि भी यही बुन्देलखण्ड है। जातिगत लोक संस्कारों से परिपूर्ण ढीमर, रजक, बेड़िया, जनजाति की विलुप्त होती नृत्य कलाएं और गायकी इसी भूमि में अभी अपनी अंतिम सांस ले रही है। लोक वाद्यों की अंतिम उपस्थिति यही गुंजायमान है। आज के ड्रम और गिटार की पीढ़ी से पूछ देखिए कि क्या उन्होंने डफला, मृदंग, ढोलक, नगड़िया, झूला, इकतारा, केकड़ी, चटकोला, मंजीरा, घुंघरू, रमतूला, अलगोजा, मोरचंग आदि से निर्मित कोई धुन सुनी है। और अगर सुनी है तो, उसे भी आज के प्रचलित नोटेशन शीट पर उकेरने की क्षमता उनमें बची है क्या? भौगोलिक दृष्टि से पहाड़ों, पठारों और वनों के बीच पसरा उजाड़ वीरान क्षेत्र अपने पुरातात्विक वैभव से परिपूर्ण है। पर्यटकों को भारत की ओर आने को प्रेरित करती खजुराहो की कामकला से परिपूर्ण मूर्तियाँ और उनके माध्यम से समाधि और शांति का संदेश देते मंदिर विश्व में और कहाँ हैं? पाँच हजार वर्ष पहले भरत मुनि की आंगिक मुद्राएँ कहाँ बची हैं। कहाँ जीवित बचे हैं संभोग और योग के अनगिनत जीवित अवशेष, जो सहज ही वैराग्य उत्पन्न कर देते हैं मनुष्यों में कि हम कहाँ लिप्त हैं और कहाँ का जीवन दर्शन हमारी राह देख रहा है। खजुराहो के जीवंत शिल्प न केवल काम कलाओं के बारे में बताते हैं बल्कि वे उस समय के अलंकरण, वेशभूषा और केशसज्जा का भी विस्तृत परिचय देते हैं। आज विश्व पर्यटन के नक्शे पर हजार बरस पहले उकेरी गई बलुआ पत्थरों की ये धरोहर अगले हजारों-हजार साल तक यूँ ही बची रहेगी और भारत की आध्यात्मिक और पुरातात्विक धरोहर को प्रशस्ति दिलाती रहेगी।

छतरपुर, पन्ना, टीकमगढ़, सागर, ओरछा अपनी कला की विविधता और अपनी आध्यात्मिकता के चलते आज तक जीवित हैं। गायकी, नृत्य, शिल्प और भाषाई सौंदर्य के साथ-साथ आजादी के संघर्ष में निभाई गई अपनी उल्लेखनीय भूमिकाओं के चलते इस क्षेत्र का अवदान हमेशा-हमेशा याद किया जाता रहेगा। राई, बरेदी, ढिमरयाई, कनड़ा और कथागायन की अनगिनत लोक परम्पराएँ आज भी एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ तक पहुँचकर वाचिक परम्परा को सार्थक कर रही है। संस्कार गीतों की तो एक पूरी की पूरी श्रृंखला यहाँ आज भी जीवित है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक को गीतों में बयान कर देती है।

आखिर इन्हीं लोक उपस्थितियों से ही तो शास्त्र की उत्पत्ति होती है। नाट्यशास्त्र भी आखिर है क्या, देश की आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक प्रवृत्तियों का समुच्चय। हालाँकि मात्र 15 दिनों में किसी भी क्षेत्र को परिपूर्णता से जाना पहचाना नहीं जा सकता पर छात्र छात्रों के अंदर एक ललक तो जगाई ही जा सकती है।

अध्ययन का पाठ्यक्रम किस तरह तैयार किया गया?

यह पूरा का पूरा कार्यक्रम मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के निर्देशक संजय उपाध्याय और आनन्द सिन्हा ने मिल कर तैयार किया है। उन्होंने सागर का चयन किया। डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के सांस्कृतिक परिषद के संयुक्त आयोजन में इस कार्यशाला की रूपरेखा तैयार की गई। कार्यशाला सागर में ही संचालित होनी थी। मंशा यह थी कि इन पंद्रह दिनों की कार्यशाला में नाट्य विद्यालय के छात्र क्षेत्र के सांस्कृतिक और अन्य मूल्यों को न केवल आत्मसात करें वरन् उसे एक प्रस्तुति की शक्ल भी दे दें। प्रस्तुति के लिए मुझसे सम्पर्क किया गया। चूँकि

बिहार, झारखण्ड, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, मध्यप्रदेश की पृष्ठभूमि से आए प्रशिक्षणार्थियों को बुंदेलखंड के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं थी। कवि ईसुरी की जानकारी इन पंद्रह दिनों में ही हासिल करनी थी। नाटक का पाठ उसका अंतर पाठ और नाटक में पिरोए गए गीत, संगीत, नृत्य और भाषा सबको आत्मसात करके हूबहू दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करना उनके लिए भी चुनौती थी। छात्र-छात्रों ने इस चुनौती को न केवल स्वीकार किया बल्कि उसे सलतापूर्वक अंजाम तक भी पहुँचाया।

●●●

वर्ष 1989 में संगीत नाटक अकादमी के युवा निर्देशक प्रोत्साहन योजना के तहत मैंने ईसुरी अर्थात् 'हंसा उड़ चल देस बिराने' की प्रस्तुति तैयार की थी जिसे देश में भरपूर प्रतिष्ठा मिली थी। ईसुरी संगीत नाटक अकादमी के राष्ट्रीय नाट्य समारोह के लिए चयनित हुआ था और तब देश भर में इसके तकरीबन सौ प्रदर्शन हुए थे। ईसुरी मूलतः बुन्देलखण्ड के लोक कवि थे और उनके जीवन के संघर्ष पर आधारित नाटक की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर ही मुझे भी इस भ्रमणशील कार्यशैली का हिस्सा बनाया गया था। कार्यशाला का पाठ्यक्रम इस तरह बनाया गया था कि शुरू के दिनों में छात्र-छात्राओं को बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक वैभव से परिचित कराया जाए और इसके लिए क्षेत्र के लोक गायकों और लोक नर्तकों की एक सूची बनाई गई थी जिसमें लक्ष्मी प्रसाद रजक (कानड़ा) चुन्नीलाल रायकवार (ढिमरआई) राम 'सहाय' पाण्डे (राई), शिवरतन यादव (गायक), पूनम अहिरवार (गायिका), भगवानदास रैकवार (अकाड़ा), प्रहलाद अहिरवार (कथा गायक) के बतौर चयनित किया गया था और यह सभी कार्यक्रम उनके गाँवों में आयोजित किए गए थे जहाँ छात्र-छात्राओं को ले जाने की व्यवस्था की गई थी। स्थानीय समन्वयक श्री राजकुमार रायकवार ने इन प्रस्तुतियों को समायोजित किया था और 15 मार्च से 21 मार्च 2013 के बीच इन्हें छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया गया।

कार्यशाला का समय चक्र बहुत कठिन था। सभी छात्र-छात्राओं को सुबह सात बजे तैयार होकर व्यायाम के लिए प्रस्तुत होना पड़ता था और इसके लिए मणिपुरी से विशेषज्ञ विश्वजीत को आमंत्रित किया गया था जो वहाँ के प्रचलित मार्शल आर्ट थानटा का प्रशिक्षण देते।

एक पूर्णकालिक नाटक के लिए इतना समय पर्याप्त था?

कदापि नहीं। सच कहें तो यह एक बहुत बड़ी चुनौती थी। मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के इस बैच के छात्र-छात्राओं में भौगोलिक और भाषाई विविधता है। बिहार, झारखण्ड, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, मध्यप्रदेश की पृष्ठभूमि से आए प्रशिक्षणार्थियों को बुंदेलखंड के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं थी। जानकारी इन पंद्रह दिनों में ही हासिल करनी थी। नाटक का पाठ उसका अंतर पाठ और नाटक में पिरोए गए गीत, संगीत, नृत्य और भाषा सबको आत्मसात करके हूबहू दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करना उनके लिए भी चुनौती थी। मुझे यह बताने में बहुत सुखद अनुभूति हो रही है कि इन छात्र-छात्रों ने इस चुनौती को न केवल स्वीकार किया बल्कि उसे सलतापूर्वक अंजाम तक भी पहुँचाया। संजय उपाध्याय भी इस चुनौती से भली-भाँति परिचित थे। वे कहते भी रहे कि ऐसा करें कि गाने तो बुंदेली में रखें पर संवाद को हिन्दी में कर दें तो छात्रों को आसानी होगी। पर मेरा कहना था कि समय से पूर्व हार क्यों मानी जाए, संवाद भी बुंदेली में रहेंगे। लिहाजा नाटक के पाठ से उसके अंतरपाठ की यात्रा प्रारंभ हुई और छात्र-छात्राओं ने अपनी मेहनत और लगन से ईसुरी अर्थात् 'हंसा उड़ चल देस बिराने' को 25 बरस बाद फिर से जीवित कर दिया।

मेरे लिए भी यह एक सुखद आश्चर्य था कि जिस नाटक को मैं नौ महीने के पूर्वाभ्यास के बाद मंचित कर सका था से दुबारा 15 दिन में मंचित करना कैसे संभव हो पाया। इस मंचन के पीछे बहुत बहुत लोगों का योगदान रहा है। बुंदेली अनुवाद मित्र सुरेश जरगर ने उपलब्ध कराया तो छात्र-छात्राओं को बुंदेली लहजा पकड़ाने में शिवरतन यादव और नन्दकिशोर पाण्डेय, नवीन चौबे और सुरेश जरगर ने जी तोड़ मेहनत की। अलग अलग समूहों में कलाकारों को संवाद की शुद्ध और निर्दोष अदायगी पर काम किया गया। 21 मार्च तक सभी छात्र छात्राएँ सभी समूह गीतों को एक स्वर में गाने लगे थे और यह काम मुरलीधर नागराज ने बखूबी उनसे करवा लिया। मुरली भाई इस नाटक के संगीत निर्देशक रहे हैं, साथ ही साथ ईसुरी की मुख्य भूमिका भी उन्होंने निभाई थी। पूरे पंद्रह दिन के उनके सानिध्य ने भी मेरा हौसला बनाए रखा कि एक से भले दो।

'ईसुरी' एक संगीत प्रधान नाटक है, इसके सांगीतिक पक्ष पर कुछ प्रकाश डालें।

दरअसल बुंदेलखण्ड अपने लोक संगीत नृत्य और भाषाई लालित्य से परिपूर्ण है। राई, बम्बुलिया, आल्हा, ढिमरयाई और संस्कार गीतों की विविधता के चलते यह प्रस्तुति संगीत प्रधान हो गई है। ईसुरी की चौकड़िया फागों की उपस्थिति और उसके संगीत संयोजन में भाई मुरलीधर नागराज का कौशल इसे एक नए रंग में रच देता है। नाटक में पारम्परिक गीतों के साथ ही साथ ईसुरी की भागों को संगीत निर्देशक ने शास्त्रीय सुगम व लोक धुनों में पिरोया है। कहीं वह शुद्ध पारम्परिक है तो कहीं कहीं शुद्ध शास्त्रीय रागों पर आधारित है। भाई मुरली ने चौकड़िया फागों को शास्त्रीय राग कल्याण, पूरिया, तोड़ी और देस में निबद्ध कर इसमें मयूर पंखी रंग भर डाले हैं। लोक की तो अपनी ताकत है ही।

आपने इस प्रस्तुति में किन वाद्यों को अपनाया।

नाटक में ठेठ बुंदेलखण्ड के लोक वाद्यों का प्रयोग किया गया है। मृदंग, नगड़िया, ढोलक, मंजीरा, लोटा, डफला, रमतूला, अलगोजा, चटकोला, बांसुरी, झूला, नगाड़ा, ढफ, इकतारा, केंकड़ी आदि वाद्यों का इसमें प्रयोग किया गया है। हारमोनियम का प्रयोग सिर्फ गायक को स्वर पकड़ाने में प्रयुक्त हुआ है।

नाटक का आलेख भी आपका ही है, इसकी प्रक्रिया और चुनौतियों के बारे में बताएँ।

ईसुरी मूलतः श्रृंगार और प्रेम के कवि माने जाते हैं। वाचिक परम्परा के तहत इनकी ढेरों श्रृंगारिक रचनाएँ आज भी बुंदेलखण्ड में

ईसुरी की लगभग आठ सौ रचनाएँ प्रचलन में हैं जिनमें से अधिकांश श्रृंगार से परिपूर्ण हैं। मैंने इस नाटक में उनके चरित्र को उनकी कविताओं के माध्यम से ही रचा है। थोड़ा सा सहारा कल्पना का भी लिया गया है। कहते हैं कि बुंदेलखण्ड में बहुत कुछ ईसुरी से शुरू होकर ईसुरी पर ही खत्म हो जाता है। ऐसे लोक कवि और जन कवि के जीवन व संघर्ष को नाटक में पिरोना कठिन तो था पर इस तरह की चुनौती को स्वीकारने का अपना अलग आनन्द है।

प्रचलित हैं। इनका विस्तृत जीवन परिचय प्राप्त नहीं है सिवाय छिटपुट जानकारियों के। यह कि इनका जन्म मऊरानीपुर के मेढ़की गाँव में हुआ था। माता-पिता की मृत्यु के बाद इनका लालन-पालन इनके मामा ने किया। जवानी के दिनों में इन्होंने गाँव धौर्रा के मुसाहब जी के यहाँ कारिंदा की नौकरी की, वहीं उनका प्रेम मुसाहब की कन्या रज्जो से हुआ। प्रेम में विफलता के बाद उनका विवेक जागा और वे जनता के सुख दुख के लिए दार्शनिक और आध्यात्मिक रचनाएँ करने लगे। वे आशु कवि थे और हर स्थिति व परिस्थिति में तत्काल कविता बनाने में उन्हें महारत हासिल थी। उन्होंने अंग्रेजों के अत्याचार से द्रवित होकर देशभक्ति पूर्ण रचनाएँ भी कीं। वे एक वैद्य, कृषि विशेषज्ञ, ज्योतिषी और कानून के जानकार थे। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर महाराजा छतरपुर ने उन्हें राजकवि का ओहदा प्रस्तावित किया था जिसे उन्होंने ठुकरा दिया और अपना पूरा समय जनता के सुख-दुख और उनकी देखभाल में बिताया।

●●●

ईसुरी की लगभग आठ सौ रचनाएँ प्रचलन में हैं जिनमें से अधिकांश श्रृंगार से परिपूर्ण हैं। मैंने इस नाटक में उनके चरित्र को उनकी कविताओं के माध्यम से ही रचा है। थोड़ा सा सहारा कल्पना का भी लिया गया है। कहते हैं कि बुंदेलखण्ड में बहुत कुछ ईसुरी से शुरू होकर ईसुरी पर ही खत्म हो जाता है। ऐसे लोक कवि और जन कवि के जीवन व संघर्ष को नाटक में पिरोना कठिन तो था पर इस तरह की चुनौती को स्वीकारने का अपना अलग आनन्द है।

इस कार्यशाला के दौरान कुछ विशेष अनुभव या अनुभूतियाँ रही हों तो कृपया साझा करें।

पूरी कार्यशाला ही विशेष थी। मिल-जुलकर एक समय सीमा में काम करना ही मेरे लिए विशेष अनुभव था। पात्रों के चयन से लेकर नाटक की तैयारी और सबसे बढ़ कर सामूहिक दोस्ताना रवैया बहुत मायने रखता है। नाट्य विद्यालय के आलोक चटर्जी, कन्हैया कैथवास, आनंद मिश्रा, तरुण पाण्डेय, कुमार दास और सागर के राकेश सोनी, ललित मोहन व राजकुमार रैकवार के सहयोग को विस्मृत करना असम्भव है। मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के निर्देशक विद्यालय के निदेशक का मैं हृदय से आभारी हूँ कि वो न केवल मेरे काम के प्रति आश्वस्त रहे बल्कि समय-समय पर अपने महत्वपूर्ण सुझावों से प्रस्तुति को उन्होंने प्रखर भी बनाया। मैं उनकी अपेक्षा के अनुरूप नाटक की अवधि में दस मिनट की कटौती नहीं कर पाया जिसका मुझे अफसोस है पर पूर्व प्रस्तुति ढाई घण्टे की थी और वर्तमान प्रस्तुति पौने दो घण्टे की। अब इससे ज्यादा मैं कुछ नहीं कर सकता था। एक व्यक्ति के जीवन व संघर्ष को उसके तात्कालिक सांस्कृतिक परिवेश में प्रस्तुत करने में समय तो लगता ही है।

कलाकारों के प्रदर्शन से आप किस हद तक संतुष्ट हैं?

निर्देशक कभी भी संतुष्ट नहीं होता। दर्शक संतुष्ट होता है। सागर व भोपाल के दर्शकों की प्रतिक्रिया बहुत ही सार्थक और उत्साह बढ़ाने वाली थी। प्रस्तुति की सफलता में निश्चय ही कलाकारों का योगदान था। विशेषकर ईसुरी की भूमिका में गगन श्रीवास्तव, रज्जो की भूमिका में श्वेता, भौजी की भूमिका में यूथिका, भरोसे बब्बा की भूमिका में पियूष वर्मा, बाकर की भूमिका में पवन राजपूत, चतुर्भुज की भूमिका में योगेश पाण्डेय ने दर्शकों को प्रभावित किया। ऋचा तिवारी, अभिलाषा सिंह सेंगर, वसुधा कुमारी, श्वेता केतकर, युथिका जोग, स्मिता सिंह परिहार ने राई नृत्य में अपना कौशल प्रदर्शित किया और अभिनय से बुंदेलखण्ड के लोक जीवन को सार्थक किया। सौरभ पाण्डेय, नितिन कालरा, समीर, दामोदर पाल, कुमार सौरभ, विजय गुप्ता ने यदि हाथ न बटाया होता तो नाटक की ढेरों सामग्री बन ही नहीं पाती। अभिलाषा और पियूष ने कास्ट्यूम आदि को अच्छे से मैनेज किया।

माटी को ढेलो

नर्मदाप्रसाद सिसोदिया

माटी का एक ढेला जो ढिक से लरककर घाट की पायती-पायती पाल पर आ गिरा है। मन में आया तो उठाकर झोले में रखना चाहा। फिर आकर सीढ़ी के पास बैठ गया हूँ तो माटी से बतियाना चाहा। गदेली पर उलट-पुलट कर देख रहा हूँ, तो जान रहा हूँ- अहा! कितना सलौना है यह। थोड़ी नमी है। कुछ रेत के कण हैं। तो हवा भी कणों के भीतर-भीतर केंचुए का गुड़लमुडुल मुँह हिल रहा है। पत्ते पतोड़ी की नश नाड़ी भी। और केंचुली की धौली धूसर टुकड़ियाँ जंतु के तंतु-तंतु हैं माटी में। अंजुरी की झारी से कुछ बूँदें उरेली तो जो छुई-मुई सी थी मुई। हाँ, कुहुक उठी पोंई। बस! लोक राग तो ठुमुक उठती।

यह माटी तो है ही ऐसी। हाँ, हवा लगे कि झरक जाती। और आँच लगी कि अमठ जाती। चकील-चकील में कुटती-पिटती पाँव-पाँव में पक्ठ्या पड़ते बस। धूल-धूसरित हो जाती। आँधी चले तो आकाश के गुबारों में गोते लगाती। फिर रिमझिम फुहारों के आते ही 'फुरेरी' से दूर तक खबर-बतर भेजती। हाँ मूसलाधार बारिश में अपने तटबंधों से उलरकर पानी की अपनी हो जाती। पानी-पानी हुई जाती। काला, लाल, पीला अपना रंग रसायन पानी को देती हो। लोक कह उठता भैया 'डोला पानी है।' पानी तो पानी ठहरा जो माटी के हर रंग में 'हर हर' हो जाता है। और माटी तो माटी है जो पानी के साथ पत्ते पतोड़ी को सड़ा गलाकर हरक पर रख लेती। कछारी हो जाती। कछनी में करनी से कस आ जाता। तो कछयारी मलयारी में मन बिरम जाते हैं।

और फिर माटी के साथ तो अनेक जीव जंतुओं का जनम का रिश्ता है। हाँ, प्राणीमात्र का नाल तो माटी में गढ़ा होता है। कहने वाले कह देते हैं, 'यहाँ तेरा नला गढ़ा है क्या?' कुछ जीव तो अल्पायु के होते हैं तो कुछ थोड़े दीर्घायु होते हैं। किन्तु इनके से अधिकांश मिट्टी में पैदा होकर फसलों वनस्पातियों खरपतवारों के साथ ही आहार विहार करते रहते हैं बड़ी उलाल से कुनबा बढ़ा लेते हैं। चटपट 'चटनी' चट कर जाते। हाँ, ये हैं कीड़े-मकोड़े साँप, फफूँद और जीवाणु। तो पौधे एवं जंतुओं के मृत शरीर के अवशेषों को मिट्टी के सूक्ष्म जीव अपघटित कर लेते हैं। हाँ, शत्रु भले ही कहलाते हों। मित्र हैं वे तो माटी का मान बढ़ाते हैं। तो यहाँ घाटी के पास ही एक अद्‌भुत नजारा देख रहा हूँ। तो कितनी अद्‌भुत कारीगरी है। कितने-कितने आकार के आवास हैं। एक पूरी कॉलोनी। कितना अच्छा नाम है कालोनाइजर का। हाँ आपने सुना है, 'दीमक'। वास्तुकार के छोटे-छोटे घरोंदे हैं। कला का ललित रूपांकन। कंगूरे बोलने लगते हैं। छोटी-सी जान और बड़ा सा काम। ओ! कैसे उठाकर लाती है माटी के कणों को। तौलती है और परखती है फिर ले जाती है ऊपर की मंजिल तक। कण-कण से जोड़ती है परपाटी। हो सकता है कोई क्रेन और सरल मशीन हो उनके पास। और रंग रसायन की तकनीक भी हो। एक कंगूरा टूटा कि हजारों की संख्या में निकल पड़ती। बस! नजरें गड़ाकर ही जान पाते कि कितनी कुशलता से रचा है अंतःपुर।

हाँ, तो प्रकृति से ही सीखा था घर बसाना। फिर तो मन ही मन सीखा गुनगुनाना। सो गुनकर ही तो नदी किनारे सघन बस्ती बनी है। तो पहले पहल जो घर का आकार आँखों में उभरा था वह सपना नहीं माटी का कच्चा गारा था। घास फूस का छप्पर था। फिर तो माटी ने नए-नए अवसर प्रदान किए हैं। माटी का ताना-बाना था। बस! पत्ते पतोड़ी के जल जाने से साफ चट हुई काली मट हुई जमीन से ढेलों को उमचाया तो हाथ से बिखेरकर बीज बोना सीखा। पीले जरदे अंकुरण को माटी के पोपड़े से फूटते देखा। डीकुर चल पड़े। लहलहाती फसलों में मन बिरमाया। उच्छाव उमगा तो पैर जमाकर रहना सीखा। सच मानें मनुष्य ने यहीं से मिट्टी में अपने विकास की नींव रखी। हाँ, फसलें आईं तो उन्हें सहेजने हेतु माटी के ही कोठी, पेवला, गढ़ना सीखा। बीजों को दलने हेतु रुचा भी माटी का ही रचा गया। फिर नई-नई फसलों को उगाने हेतु मिट्टी की पहचान जानने की उमंग आई।

सच मानें, मनुष्य ने मिट्टी में अपने विकास की नींव रखी। हाँ, फसलें आईं तो उन्हें सहेजने हेतु माटी के ही कोठी, पेवला, गढ़ना सीखा। बीजों को दलने हेतु रुचा भी माटी का ही रचा गया। फिर नई-नई फसलों को उगाने हेतु मिट्टी की पहचान जानने की उमंग आई। माटी का राग अनुराग है। मंगलाचार, लोकाचार है।

माटी का राग अनुराग है। मंगलाचार लोकाचार है। यूँ तो धरती की ऊपरी सतह है जमीन। लोकाचार से परिपूरित सक्रियपरत है मिट्टी। और ऊपरी भाग सुहागा तो मृदा है। यह कार्बनिक पदार्थों से सड़ने गलने लगती है। हाँ, धरती माता को पतले धुसाला से ढँकती है। इसमें जीवांश, खनिज, जल और वायु जैसे घटक होते हैं। फिर परिवेश की प्रकृति के अनुकूल रंगों की रचना के क्या कहने। बाघ की गुफाओं के पास अनेक रंगों की मिट्टी के टीले हैं। तो उसके अपने तपोवन के क्या कहने। कहीं तो कंकर शंकर हैं तो धूल धूसरित। और सफेद छुई मिट्टी तो लाल मुरम। पीली जरद। कालीमट। मैंने उस सात्विक अन्न

से ओटले के धुँधवाते चूल्हे पर उबलती खदबदाती दाल को पकते देखा है और देखा है दोनी में जमते। घुरघुम्म करती रई से मथते हुए मथानी के छाछ को सुड़का है। पोटली में बँधे हैं वे माटी के लोक अनुष्ठान। विरुदावली उमचाना तो मेरे वश की बात नहीं। पर मुझे लग रहा है कि मेरे छाछ में गुड़ की डिगरी घुल रही है।

गोंदरी घाट पर हम माटी का लीलाभाव देख रहे हैं। एक ढेला मैंने मालाखेड़ी की बागली नदी की किनारे से लाया था। और एक ढेला खेत से। फिर एक ढेला हमने ढिक से उठा लिया है। साथ में आए मेरे नाती आदर्श और अभि पूछ रहे हैं नानाजी ये कौन-कौन सी मिट्टी है इनके भी नाम हैं? प्रश्न उत्सुकता से भरा था तो हमने तय किया कि बारी-बारी से इन पर जोर उडेलना है। बस। फिर क्या था क्रम में रखे पहले ढेले पर धीरे-धीरे झारी उसकारी। पुलक जागी तो थोड़ी ही देर में मिट्टी तो नोनी पोनी हो गई। ढेला ढरक गया लरक गया। इसमें जल भराव तो असाधारण है। इस मिट्टी में बहुत बारीक कण हैं। सो रंध्रता कम ही है। हाँ इसी कारण से इस माटी के कणों के बीच वायु भी कम ही रहती है। फसलें तो इसमें लहलहाती तो हैं पर गुने में पीछे रह जाती। बच्चों ने गीली मिट्टी के आसानी से गोले बना लिये। मैं तो रोज ही सिर में उबटन लगाता हूँ बाजारू व्यवस्था ने मुलतानी मिट्टी के पैकेट चला दिये हैं। तो बागली जैसी चिकनी मिट्टी से बर्तन खिलौना और मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। हाँ, हम यह भी जानना चाहेंगे कि माटी की मटकी से पानी का रिसना उसका मौलिक स्वभाव है। रूपवान सोने की सुराही में यह गुण कहाँ ठहरा। और यह भी कि मटकी में झारा पड़ जाने पर झाला नहीं जाता। तो माटी में कहाँ से सौन्दर्य आता है। यही कि कुम्हार या मूर्तिकार के हृदय की मुक्तावस्था में ही माटी में 'रूप' आता है। हाँ, उस आकार में एकाकार हो जाना ही सिद्धि है। यहीं पास के ही चौरे घाट पर नवरात्रि में कलकत्ता के मूर्तिकारों ने जाँची परखी माटी से एक सौ आठ मूर्तियों को जो रूप सौन्दर्य प्रदान किया वह चमत्कृत करने वाला तो था ही तभी तो दर्शक उस मूर्ति शिल्प में देवलोक की जीवंतता देखकर रससिक्त हुए जाते हैं।

माटी में कहाँ से सौन्दर्य आता है! कुम्हार या मूर्तिकार के हृदय की मुक्तावस्था में ही माटी में 'रूप' आता है। हाँ, उस आकार में एकाकार हो जाना ही सिद्धि है।

अब दूसरे ढेले पर अभि ने अंजुरी भर पानी छोड़ा है कि बस! थोड़े ही पानी के पड़ते ही ढेला भरभरा गया। उसकारने की क्या बखत रही। फर्श पर रेला बह निकला। रेत में बड़े-बड़े चिकने चुपड़े कंकड़ हैं तो रंध्रता अधिक है। जल को थामे रखना इनके वश की बात नहीं थी। थोड़े से ही खनिज भी धुल-धुलकर धुल गए। फर्श पर पीलापच फैलारा था। हमने सकेल कर एक लड्डू बनाना चाहा पर बेमुश्किल लड्डू बना फिर अभि ने आदर्श के हाथ पर उठाकर रखते ही फूट पड़ा कण छार-छार हो गए। दोनों हँस पड़े, 'नानाजी क्या हुआ ये।' हम देख रहे हैं कि इस प्रकार की 'रेतीली मिट्टी' में मौसमी साग भाजी उगाई जाती और फलदार पेड़ों के बगीचे लगाये जाते और कुछ फसलें बोई जाती तो मावठे की राह देखी जाती तो छबाई-मुँदाई और भराव की भसुआ मट्टी भी इधर से ही ले जाई जाती। एक दिन का किस्सा याद आया। रेत से भरे गमले में जो पौधा टुकुड़कुचा सा था। पानी तो गले-गले था पर, उमल रहा था। फिर उलात से रेत, पानी उलीचकर काली माटी के मँझोले ढेले डाले और गुबरीली छोड़ी। और थोड़ा-थोड़ा फुहारे से पानी उरेला। बस दो दिन में ही चेहरे पर सुलपाई आ गई। पर, गमला ठस न जाये तो खुरपी से माटी उसकारी गई। तो गमले को छत के नीचे से उठाकर आँगन में रख दिया। हाँ, वेल चल पड़ी गगनमंडल की ओर।

और यह माटी तो अपने हिया में पूरा कुटमारा पाले हुए है। क्यों न। हाँ, बालू रेत चिकनी मिट्टी भी है। रंध्रता की अनुकूलता होने से वायु की मात्रा अच्छी है। फुदने-फुदने भी हैं सड़े-गले हैं हमारे बीच हेमंत बोल पड़ा 'काकाजी' ये तो ह्यूमस है। पुसताई पूरी है अच्छा कस है। तो इस मिट्टी में गेहूँ, चना सोयाबीन की फसलें अच्छी पैदावर देती है तो ये थी भरपूर नमीवाला गुणी तीसरा ढेला। पानी का मान सिर आँखों पर रखा तो जाना कोई नाड़ी दोष नहीं था। तो ये है 'दोमट मिट्टी'। यूँ तो लाल मिट्टी शुष्क मरुस्थलीय, लैटराइट लवणीय क्षारीय, कार्बनिक पर्वतीय मिट्टी पाई जाती है। जलोद मिट्टी तो आमतौर पर नदियों के पास ही मिलती है। उस खेत में ही देख रहा हूँ जिसमें कली-कली खिल गई है माटी की। नर्मदा के कछार की मिट्टी तो सोना होती है। खरा सोना। बाढ़ के दिनों में माई की छोटी-छोटी सहायिकाएँ पिघल जाती हैं। धीरे-धीरे जल उतरता है कीचा कपा से खेत भर जाते हैं। बरास की बरास जमा हो जाती है। ह्यूमस से रससिक्त कछार की माटी उपजाऊ हो जाती है। नागार्जुन ने ठीक ही लिखा है :

'धरती का हृदय धुला, मेघ बजे!
पंक बना हरिचंदन, मेघ बजे!'

आज मेरे पड़ोसी रावतजी के घर भागवत पुराण पूजा है फुहारें चल रही हैं फाफट रोकने के लिए बड़ी सी रावटी तानी है घर के सामने। घाट से ही मिट्टी लेने माता-बहनें आई हैं। नानी, नानी कोरी कुरकुई हैं और छोटी सी कुदाल। नाड़े के कांडात बाँधे गये हैं इनमें। बाजा बजंतरी की संगत में बधावा के गीतों का संगीत चल रहा है। चल समारोह ने जगह तलाशी। फिर झाड़ी बुहारी। गोल-गोल घेरा गोबर

से लीपा गया। पान सुपारी रखी जाती। अक्षत कुमकुम छिटके जाते तो धूप दीप बताई गई। पल्लू पकड़कर धरती माता के चरणों में माथा टेककर प्रार्थना की गई। माटी खोदी जाती। हाथ से उलीचकर कुरकुई में ढेले रखा जाते। एक-एक कर पाँच डलियाँ भर गई तो ननद भौजाई बहन बेटियाँ सिर पर रखकर चल पड़ती घर की ओर। लोक राग बहती है माटी का मान सिर आँखों पर हो तो झंकार पड़ते ही रोम-रोम स्फुरित हो जाते हैं। आँगन में माटी उरेली जाती। कूटी-पीटी जाती। बारीक कणों में गेहूँ के दाने मिलाकर एक दिलकर व्यास गादी के चारों ओर माटी की चौकोर पोली, पाली बनाई जाती। झारी से छिड़काव किया जाता। दो दिन बाद अंकुर फूटती। बस! जैसी हिफाजत चौकसी बरती जाती वैसे ही पीले जरद ज्वारे उमगते। बस! कथा सुन रहे हैं। जब

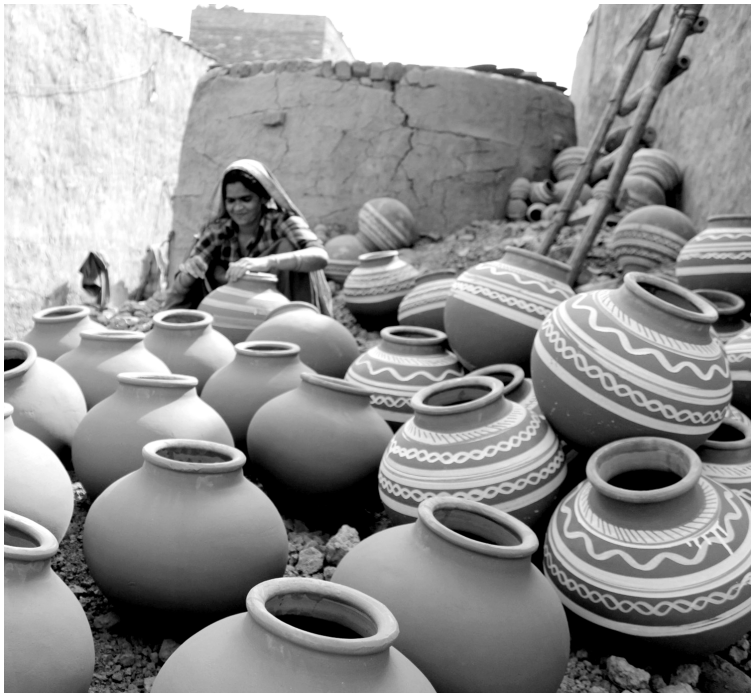

छिड़काव और माटी कहुसाओं में अंकुरण का उमगाओ मन रहे हैं। 'समैया ओ गओ' भैया। कांस फूल गए हैं। टिपटी पर चर्चा चल रही है। इधर खेत सुहाने लग रहे हैं काबड़ में, सैरा में, टेकरा में खेड़ा में दौड़ धूप लगी है। हार के हाररंग हरवाया ने आकर टेरा- हँपाई सुसताई। बात उमलाआई- 'बड़े बीर सैरा के बतर आ गई मनो काबड़ में दो दिना की निरात है। आज पलटने पड़ें नई तो सैरा कड़क को जेहे।'

बतियाते बतियाते उसने यही रट लगाई। बस फिर तो पीले बादल ही नर्मदा के पास खेत पलटाए जा रहे हैं। हल बक्खर तो बीते दिनों के हो गये। ट्रैक्टर चल रहे हैं। फिर 'हेरा' से माटी को भुरभुरा बनाया जा रहा है। दुफन तिफन का चलन नई है अब। हुलूर गायन के दिन तो लद गए। ट्रेक्टर में सिंड्रल लगाकर बोनी कराई जाती। पूरी बोनी का दिन तो माटी के उच्छाव का दिन होता है। ग्वालटोली के खेमचंद यादवेश अपने खेत में हर साल नाड़ी पूजा करते हैं। मुझे याद है जिस दिन मछन्दरी माई की पूजा होती थी। घर से सिवनीमालवा की पाठशाला चिट्ठी आती थी। कल नाड़ी पूजा है दोनों भाई घर आ जाना सच मानें उस चिट्ठी को हम मनीआर्डर समझते थे। बस! छुट्टी लेकर घर रतवाड़ा गाँव चले जाते थे। मड़ैया में छोटे-छोटे ढेलों के देवता विराजित करते। तो पूजा उपरांत मिट्टी में गेहूँ के चांस के बीच गड़बड़ गोटी खाते। फिर दो दिन बीतते ही भोर में सूरज की चमकती किरणों के साथ माटी की भावावस्था में पिलझाँई से पोंई फूटते देखना कितना सुखकर लगता। फिर हुमकारा भरते डीकुर चल पड़ते तो खेत भर जाते। पसीने की बूँदों से अभिमंत्रित माटी सोना हो जाती है। मुझे लगता है घुटनों में वह माटी चिपकी हुई। पिताजी का वह अनुष्ठान हमारी धरोहर है। हाँ, दूर सात समंदर पार जो लोग रोजी-रोटी के लिए चले गए हैं उन्हें भी अपने तीज-त्यौहार पर जरूर अपनी माटी की याद आती है घर से चिट्ठी आई है बस उमचाते ही आँखों में भर आई तलाई। तो स्मृतियों से परिपूरित झिलमिलाती तलाई में देख रहे हैं- ओ! हो! आखाती पूजा में मिट्टी के माहवार नामधार चार ढेलों पर आम के पत्तों की झालर वाला जल से भरा माटी का ढेला रखा जाता। और जान रहे हैं कि किस ढेले पर अधिक पानी रिसा है बस! इसी गणित से अनुमान लगाया जाता कि अमुक माह में अधिक कम पानी

माटी की मटकी से पानी का रिसना उसका मौलिक स्वभाव है। रूपवान सोने की सुराही में यह गुण कहाँ ठहरा। और यह भी कि मटकी में झारा पड़ जाने पर झाला नहीं जाता।

गिरेगा। फिर स्मृति में यह भी उतर रहा है। पोला अमावस पर बैलों को घूँघरमाल पहनाकर सजाया सँवारा जाता। घर के देवालय में माटी के रंगे-चंगे बैलों की पूजा की जाती। दिवाली आई कि घर आँगन माटी से छाबे जाते। तुलसी चौरा में कंगूरे बनाये जाते। छुई मिट्टी से दीवार पोती जाती। मंगलकामना से माटी के दीया जगमगाते। और मिट्टी की लक्ष्मीजी की पूजा करते-करते आजी की दरदरी छाती तो भरभरा जाती। परिवार में विवाह उत्सव है तो खनमट्टी लाई जाती। माटी के कोठी पेवला चूल्हा सिगड़ी बनाये जाते। माटी के साथ नवजीवन के ताने-बाने बुने जाते। हाँ, आँखों आँखों में इतना देखते-देखते यही हाल अपने बेटे बेटियों को सुनाते-सुनाते अघाते नहीं हैं। फिर मनमोहिनी बाँसुरी तो रह-रहकर विदेशियों को हुलसाती रहती है। वे ब्रज वृंदावन की माटी में लोट लगाने चले आते हैं तो 'राधे-राधे में यही रम जाते हैं। लोक के हो जाते हैं।'

तेरे लाला ने ब्रज रजखाई यशोदा सुन भाई।
अद्‌भुत खेल सखन संग खेल छोटो सो माटी को ढेलो।

घाट पर मंडली के बीच भजन चल रहा है। श्रोता झूम रहे हैं। माटी की बड़ी बलहारी है। कान्हा तो मुख में मोदक मल रहे हैं। मिसरी घुल रही है। जिस मुख में ब्रह्माण्ड समाया हो उसे तो माँ यशोदा ही खोल सकती है। वेद भी 'नेति नेति' कह देते हैं। माई तो माटी के महाभाव में डूबकर अनंत कोटि ब्रह्माण्ड को निहार रही है। यहाँ हमारी

पृथ्वी की बात करें तो पाते हैं कि पृथ्वी की प्रथम परत भूपर्पटी जिसकी तीस से साठ कि.मी. मोटाई है जिसमें पेट्रोलियम, कोयला, चूना, लोहा, ताँबा, सोना, रत्न और गैस के भंडार हैं। तो मध्य परत को प्राबार कहते हैं जिसमें 2900 कि.मी. की गहराई तक पिघली चट्टानों के अंश मेग्मा में लोहा, मेग्नीशियम मिलता है। और तीसरी भीतरी अंतिम परत में सबसे ज्यादा ऊष्मा होती है। पिघला लोहा पाया जाता है तो अद्‌भुत अद्‌भुत है माटी का खेल। प्रकृति से तादात्म्य रचने से ब्रह्मानंद प्राप्त किया जा सकता है। कहा गया है 'रसो वयसः'। सुनीता विलियम्स और अनेक अंतरिक्ष विज्ञानी प्रकृति से तादात्म्य रच रहे हैं। खगोलविद कहते हैं पृथ्वी के चारों ओर अनंत सीमा में फैले क्षेत्र को ब्रह्माण्ड कहते हैं। इसमें अरबों मंदाकिनी है। हमारा सूर्य जिस मंदाकिनी में स्थित है उसे आकाश गंगा कहते हैं। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।' सूर्य तो जीवमात्र का प्राण है। वह मिट्टी में तेज भरता है। वनस्पति का आधार है। वह पृथ्वी से संतोष स्वरूप जल प्राप्त करता है और बदले में उसे मीठा चट बनाकर लौटता है। हाँ, कृष्ण ने सुदामा से चिउड़ा लिया था और बदले में सोने की सुदामापुरी बनाकर दी थी।

माटी तो मोहन है जो मोहर से करूआ भर देती है। आज रविवार हाट का दिन है। घाट के नजदीक दी देवामाई की समाधि के आसपास रेवामाई की रज रज पुकार लगा रही है। 'बाबूजी करेला गुइया लहसुन है रजोनकी। रतालू, गठालू और पिंडी है खाड़ादेवरी की। तो टुनुक सी गुइया और गिलकी की तुआ निया। भैया! सच्चीमात देशी गोबर के खाद के हैं। तो रूप रस स्पर्श से आपूरित माटी की गंध तो घट-घट में व्याप्त है। पूर बेचने वालों को अपनी माटी का मोल पाने की होड़ा हिस्सी भरा अमलो उमायो है।'

इधर किनारे के घरों का चोर पानी पिचिंग के पत्थरों से झिरप रहा है। चोवना भरे हैं और जल के पास ही जो फूल माला है। आटे के दिया है। धूप काड़ी है। नारियल के बूच, केले के छिलके हैं। फिर मूर्ति विसर्जन की घास-फूस धान की पयाल है। घाट पर भण्डारा है जीमने जिमाने का नया रिवाज क्या आया कि रंगीली पातलें फैल रही हैं। तो निर्मल बाबा के कहने से काँच की फ्रेम में जड़ी अनेक तस्वीरें रख छोड़ी हैं। और प्लास्टिक की अनेक वस्तुएं घाट पर फैली हैं। तो जैविक कचरे पर जीवाणुओं की क्रिया अत्यधिक तेजी से हो जाती है अतः फलों के छिलके घासफूस तो अपघटित हो गये हैं और तो और कचरे के ढेर पर कुकुरमुत्ता ने छतरी तान रखी है। बड़भागी है, वह कॉलोनाइजर ने प्रतिकृति द्वारे पर शिल्यापित की है। किन्तु काँच, प्लास्टिक, पॉलीथिन तो मिट्टी में कई वर्षों तक पड़े रहते हैं और साथ ही विषैले पदार्थ उत्पन्न करते हैं। मृदा प्रदूषण को बढ़ाते हैं। खुदाई में मिले ठीकरें भी माटी की पहचान बताने में समर्थ होते हैं।

साँझ का समय है। माटी गुमसुम है। घाट पर लगे हैलोजिन के आस-पास मंडराते कीट पतंगे सबके सब माटी के हो गये हैं। माटी की यही लीला है। उपागन भी सड़-गलकर माटी का रूप ले लेते हैं, पावन हो जाते हैं।

माटी तो कभी हेठी नहीं देखना चाहती वह तो पैरों में हटूटी लाती है पर क्या करें। लगातार रासायनिक खाद के उपयोग से मिट्टी का कस कम हो रहा है। घाट पर बतियाते हैं भैया-पपीता फीके फस हैं। दाल का वह स्वाद कहाँ हिरा गया। दोहन में लगी 'मत' बस! हबड़-दबड़ में लगी रहती है कारज सर गया काम उरक गया तो लोग चलते बनते हैं। अब मुरक नहीं बची है। साँझ का समय है माटी गुमसुम है। घाट पर लगे हैलोजिन के आस-पास मंडराते कीट पतंगे सबके सब माटी के हो गये हैं। माटी की यही लीला है। उपागन भी सड़-गलकर माटी का रूप ले लेते हैं पावन हो जाते हैं। घाट पर आपस में बतियाते हैं सुन रहा हूँ 'दीपक भैया आज दिखे नहीं कहाँ गए हैं? मट्टी में गओ है।' इतना सुनकर माँ की ममता छलक उठती है।

घाट की टिपटी पर सुने भजन की झंकार आज भी सुन रहा हूँ- 'मिट्टी ओढ़ना मिट्टी बिछाना/मिट्टी का सिरयाना- ये तन है माटी की काया/एक दिन मिट्टी में मिल जाना।'

शिविर

और रंगत सब सारी मिट्टी की...

मिट्टी की दार्शनिकता को लेकर सदियों से बहुत सी बातें कही गयी हैं। कबीर, रहीम, सूर, दादू दयाल, पीपा भगत कितने ही सन्तों ने मनुष्य देह से लेकर सब जगत की सर्जना का मूल मिट्टी बड़ी गहरी व्याख्याओं के साथ बताया है। अलग-अलग कालखण्ड में, अलग-अलग समय में उनकी यही वाणी इतनी मर्मभेदी रही है कि उसका प्रभाव पीढ़ियों के साथ आज तक चला आया है। मिट्टी से जीवन है और जीवन का अन्त मिट्टी है। मिट्टी हमारी ज़िन्दगी का बहुत बड़ा सच है। जब कभी हम मिट्टी की महिमा से जुड़ते हैं, मिट्टी की महिमा को देखते हैं तो बहुत सारी सुप्त धारणाएँ जागती हैं और पलकें झपकाए बिना एकटक देर तक मिट्टी के अर्थ में हम अपने अस्तित्व को तलाशने के लिए विवश हो जाते हैं।

इस तरह की बहुत सारी बातें उदयपुर के शिल्पग्राम में दो दिन बिताते हुए उस समय मन में आती-जाती रहीं जब देश भर के तकरीबन तीस से अधिक शिल्पकारों के एक शिविर का साक्षी हुआ। पश्चिम मध्यक्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र द्वारा एक बडा शिविर दो सप्ताह का आयोजित किया गया था जिसमें देश भर से गुणी शिल्पकारों की भागीदारी हुई। शिल्पग्राम की अनगढ़ बनावट ने भोपाल के अपेक्षाकृत व्यवस्थित बने इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय की याद दिला दी लेकिन उदयपुर का शिल्पग्राम नियमित देखरेख के प्रभाव से अलग एक अपना रूपक गढ़ता है।

यहाँ घूमते हुए छोटी-छोटी झोपड़ियों में राजस्थान की पारम्परिक प्रदर्शनकारी कलाओं को देखने का सम्मोहक अवसर था सो कठपुतली का प्रदर्शन भी जिसमें पीछे से एक पुतली को नचाते हुए कलाकार का उसे ऐश्वर्य राय कहना हँसा गया। वहीं एक जगह मांगणियार गाने वाले भुट्टे खाँ को सुना तो पूछ भी लिया कि तुम वो भुट्टे खाँ तो नहीं हो जो जग-प्रसिद्ध है, इस पर उस युवा ने झेंपते हुए कहा वो अलग हैं, हमारे दूर के रिश्तेदार हैं। वहीं कालबेलिया नृत्य की भी झलकी देखी। वस्त्र, मिट्टी शिल्प के छोटे-छोटे विक्रय केन्द्र भी। अतिथि प्रदर्शन में गुजरात की राठवा जनजाति का नृत्य अभिव्यक्ति में अलग ही उल्लास और रंग का परिचय देता दिखायी दिया।

माटी के रंग, शीर्षक दिया गया था शिल्पकारों की कार्यशाला को। जिस क्षण का साक्षी बना था, उस क्षण तक सभी शिल्पकार अपनी कलाकृतियों को गढ चुके थे। चौदह राज्यों के ये शिल्पकार राजस्थान के मोलेला से लायी गयी मिट्टी से काम कर रहे थे और कुछ मिट्टी अपने साथ भी लेकर आये थे। सांस्कृतिक केन्द्र के कार्यक्रम अधिकारी विलास जानवे ने बताया कि सभी शिल्पकारों की मिट्टी को एक साथ मिलाकर शिल्पकारों को अशोक स्तम्भ बनाने का आग्रह हमने किया। समभाव और एकरूप की संवेदनशील अवधारणा को इस उपक्रम से सार्थक करने का विनम्र प्रयत्न था यह। यहाँ पर शिल्पकारों ने आपस में भी अपनी तकनीक को साझा किया।

तमिलनाडु के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त शिल्पकार तंगैया को सफेद लुंगी बांधकर उघाड़े काम करते देखकर चकित हुआ। वे दीखने में बड़े सहज और सरल, बात करने में एकदम विनम्र। उन्होंने एक बड़ा बैल बनाया, कुछ बड़े पात्र बनाये और विशेष रूप से उल्लेखनीय एक कामधेनु का निर्माण किया जिसका आकार लगभग साढ़े चार फुट था। उनकी कला दुनिया में सराही गयी है। उनके अलबम में मिशेल ओबामा को उनसे बतियाते देखकर सुखद विस्मय भी हुआ। ओडिशा के मुकुन्द राणा ने लंकापुरी हनुमान की मूर्ति बनायी थी और विशेष रूप से कुछ कबेलू तैयार किए थे जिनके ऊपर चिड़िया, बन्दर, उल्लू और कछुआ आदि बैठाये थे।

गोरखपुर से भोला प्रसाद इस शिविर में शामिल हुए थे जिन्होंने पारम्परिक हाथी-घोडे बनाये। बिहार से लाला पण्डित आये थे जिन्होंने राजा शैलेष और कुछ सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण किया। कर्नाटक के हरीश मल्लप्पनवार ने अपनी आंचलिकता और सृजन चेतना से यक्ष और यक्षिणी के मुखौटे तैयार किए थे जो बहुत ही प्रभावित करने वाले थे। यहीं के प्रमोद कराण्डी ने घर के द्वार पर लगाये जाने वाले घोड़ों के कलात्मक शीश तैयार किए थे। अविभाजित मध्यप्रदेश और वर्तमान छत्तीसगढ़ के शिल्पकार सियाराम चक्रधारी ने बस्तर और गोण्ड जनजाति के देवी देवता और हाथी का निर्माण किया था।

शिल्पकारों की कलाकृतियों को देखकर एक बात यह भी महसूस हुई कि एक ही परिधि में काम करते हुए सभी कलाकारों में बड़ी सकारात्मक ऊर्जा अपना प्रभाव दिखला रही थी। शिल्पकार यहाँ पर जितने एकाग्र दिखायी देते थे, उतनी ही प्रेरणा प्राप्त करते हुए भी। पोकरण के मिश्रीलाल ने एक बड़ा सा खूबसूरत सा गुलदस्ता बनाकर रखा था जिसे वे अपने हुनर से और तराशते जा रहे थे। बात करने पर उन्होंने एक बड़ा सा प्याला भी दिखाया और उसके पहले उन्होंने पूरा किया था। मध्यप्रदेश के भीकम प्रजापति ने दीपावली पर पूजा के स्थान पर रखे जाने वाले हाथी को गढ़ा था जो सोलह दीयों से सुसज्जित था। उन्होंने कुछ छोटे-छोटे सुन्दर से पात्र भी तैयार किए थे। इस शिविर में मणिपुर से आये कलाकार दम्पत्ति चिहानपम सासा और चोयलीता ने नागा समुदाय के बड़े खूबसूरत से वृहद पात्र तैयार किए थे। उनके बनाये मुखौटों में प्राचीन इतिहास अपनी समृद्ध छबि के साथ दिखायी दिया था। उन्होंने वहाँ उपयोग में लायी जाने वाली कोठियों का निर्माण भी किया था।

नदिया पश्चिम बंगाल के चन्दन गुप्ता ने बाउल संगीत में प्रयुक्त होने वाला एकतारा बनाया था। असम के निखिल चन्द्रपाल ने पारम्परिक देवी, घोडे और गेण्डा बनाये थे। गहनों से सुसज्जित एक जनजातीय स्त्री और पारम्परिक कृतियों का सृजन किया। केरल के सुरेश कूत्तुपरम्पा ने तैय्यम के मुखौटे उसी प्रभाव और कला वैभव के साथ सृजित किए थे जिसके लिए यह कला और प्रस्तुति हमारी स्मृतियों में रहती है। अलवर के गंगा सहाय ने नक्काशीदार विशाल गुलदस्ता बनाकर सभी को चकित कर दिया था। चम्पालाल मोलेला और गोगुन्दा के घासीराम ने घरेलू उपयोग के पात्र, वस्तुएँ, झोपडी, बड़े बरतन, छोटे खिलौने आदि बनाये थे।

एक सृजनशील और हमें अपनी जिज्ञासा के साथ उस पूरे वातावरण से जोड़ लेने वाला यह संसार बड़ा ही अनूठा था।

-सुनील मिश्र

किसी भी गीत की संगीत रचना करना या धुन बनाना एक अद्‌भुत कला है। इसकी संबद्धता सांगीतिक कौशल से तो है ही, साथ-साथ इस कला में जीवन के विभिन्न अनुभव, और उन अनुभवों से विकसित सौंदर्यबोध का अत्यधिक महत्व है।

सुर में साँस लेता है नग़मा कुछ ऐसे

अभिषेक त्रिपाठी

किसी भी धुन के बनने में सबसे बड़ा तत्व, संगीत निर्देशक या कंपोजर की खुद की काबिलियत होती है। एस्थेटिक्स का विकास अर्जित ज्ञान, कौशल, अनुभव, संवेदना आदि पर निर्भर करता ही है, इसके साथ ही रचयिता की संस्कृति, सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक परिवेश आदि जैसे अनेक कारक भी एस्थेटिक्स को प्रभावित करते हैं। इसीलिये कंपोज़र की खुद की खासियत ही धुन पर सबसे ज्यादा प्रभाव रखती है।

मेरे बालमन में ही एक कंपोज़र का प्रस्फुटन हो गया था। बाद में धीरे-धीरे मैं अनायास ही कंपोज़र बनने की ट्रेनिंग लेता गया। एक ही गीत को बार-बार सुनते हुए उसके रस में सरोबोर होता रहता और उसकी धुन, वाद्यवृंद रचना, गीत, गायन शैली, गायकी की बारीकियाँ और ऐसी ही तमाम चीज़ों की मीमांसा करते हुए धीरे-धीरे मेरा सौन्दर्यबोध विकसित होता गया। जैसे-जैसे मैं गहराई तक पहुँच पा रहा था वैसे ही मेरे अंदर और गहरे जाने की, और बारीकियों को समझने की इच्छा ज्यादा बलवती होती जा रही थी। इसी प्रक्रिया के दौरान स्वयं की धुन बनाने की प्रेरणा जागी और मैं संगीत रचना करने लगा। धुनें बनाने के लिए धीरे-धीरे मेरी अपनी तकनीक भी विकसित हो रही थी। या यूँ कहें कि मैं अपने आपको 'सेल्फ एक्सप्लोर' कर रहा था। जब संगीत की समझ थोड़ा विकसित हो गयी तो एकायक कॉर्ड्स पर जाकर मेरा ध्यान केन्द्रित हुआ और मैने कॉर्ड्स सीखने शुरू किए। आगे जाकर कॉर्ड्स की थ्योरी के बारे में जाना। चूँकि हम हिन्दुस्तानी संगीत के परिवेश में हैं जहाँ शास्त्रीय संगीत की जानकारी होना किसी भी कंपोजर के लिए अति आवश्यक है। परन्तु इस पूरे हिन्दुस्तानी संगीत में 'कार्ड्स' की महत्ता की कोई तस्वीर ही नहीं है, फिर भी 'कॉर्ड्स' की जानकारी हो जाने पर यह जरूर समझ में आया कि ये संगीत की एक अद्‌भुत छटा पैदा करने की काबिलियत रखते हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में कॉर्ड्स की उपयोगिता मुख्यत: फ़िल्म संगीत, सुगम संगीत की विधाओं में है।

भाषा अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट साधन है। सामान्य बोलचाल से हटकर जब इसी भाषा के द्वारा एक विशेष भाव, स्थिति आदि की अभिव्यक्ति काव्यात्मक रूप में की जाए तो वह गीत हो जाता है। पहले गीत छंद में ही व्यवस्थित होते थे। ये छंद अनेक प्रकार के होते थे। आधुनिक काल में छंदमुक्त गीत या काव्य भी प्रचलन में आ गए हैं। परन्तु एक अच्छे गीत में आज भी आंतरिक लय और छन्द उपस्थित होते हैं। चाहे वह भले ही छन्दमुक्त रूप में लिखा गया हो। हमारी चर्चा एक गीत की सांगीतिक प्रस्तुति या रचना में भाव निरूपण कर सकने वाले विभिन्न तत्वों पर आधारित होगी। यह पूरी चर्चा सुगम और फिल्म संगीत के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत होगी। किसी भी गीत को सांगीतिक व्यवस्था से निबद्ध करना एक बेहतरीन कलाकर्म है। इसके जरिये गीत में लिखित भावों को रंजित करके कर्णप्रिय और अधिकाधिक भावोत्पादक और प्रभावोत्पादक बनाने का कार्य किया जाता है। भावों का यह निरूपण बहुत कुछ कंपोजर के सौन्दर्यबोध पर निर्भर करता है। भाषा अभिव्यक्ति का एक साधन है। इस भाषा के साथ संगीत की भाषा का समागम एक विहंगम भाव दृश्य उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। संगीत भाषा से गुजरते हुए इस भावदृश्य में सराबोर होकर श्रोता उस भाव को आत्मसात करने की स्थिति तक पहुँच सकता है।

सटीक भावनिरूपण को प्राप्त करने के लिए कंपोजर को गीत की विषय वस्तु को गहरे से समझना होता है। उसके बाद वह अपने चेतन मन में इस गीत की विषय वस्तु के सापेक्ष एक भावनात्मक,

शब्दार्थ, भावार्थ और गूढ़ार्थ की समझ रखना एक कंपोजर के लिए अति आवश्यक होता है, क्योंकि यही वह समय होता है जब धुन की अवधारणा और परिकल्पना के अंकुर का प्रस्फुटन होता है।

संवेदनात्मक आधार की अवधारणा बनाता है। यह अवधारणा बन जाने पर सबसे पहले धुन या मेलोडी की परिकल्पना को प्राप्त करना इस प्रक्रिया का अगला चरण होता है। इस परिकल्पना के बाद ही अनुगामी ताल, लय, गत की रचना, कार्ड सीक्वेंस, कॉर्ड प्रोग्रेसन, आधार स्वर (की नोट) का निर्धारण, वाद्यों और गायकी से भावों को बढ़ाने की तकनीक, हारमोनाइजेशन और ऑर्केस्ट्रेशन तकनीक पर बात आती है और इस तरह एक धुन या मेलोडी किसी प्रस्तुति या रिकॉर्डिंग के लिए तैयार हो पाती है।

कहने के लिए इसे धुन बनाना या संगीत रचना तैयार करना कहेंगें, परन्तु यह एक सतत प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया के अनेक चरण समय के साथ-साथ नए-नए उन्वान प्राप्त करते हैं तथा कोई धुन और अधिक परिपक्वता प्राप्त करती है। यह परिपक्वता निश्चित रूप से भाव सम्प्रेषण और निरूपण के स्तर पर तो आती ही है इसके अलावा इसका परिमार्जन और शुद्धीकरण भी होता जाता है।

गीत की विषय वस्तु

किसी भी गीत को संगीतबद्ध करने के लिए सर्वप्रथम इसकी विषय वस्तु, भाव भंगिमा, गीत की आंतरिक और बाह्य लय का विवेचन, छंद की मीमांसा, पदावली की व्याख्या करना अत्यधिक महत्वपूर्ण है। गीत किस विषय पर आधारित है, उसका व्यावहारिक उपयोग किस परिदृश्य में हो सकता है, उसमें क्या-क्या भाव सन्निहित हैं, यह भली-भाँति समझना आवश्यक होता है। शब्दार्थ, भावार्थ और गूढ़ार्थ की समझ रखना एक कंपोजर के लिए अति आवश्यक होता है, क्योंकि यही वह समय होता है जब धुन की अवधारणा और परिकल्पना के अंकुर का प्रस्फुटन होता है। गीत के शब्दों और भावों में अंतस्थ लय समझना एक मुश्किल काम है पर यह धीरे-धीरे अनुभव होने वाली चीज़ है। बाह्य लय तो भौतिक रूप से छंद और पदावली में दिखती है, परन्तु आंतरिक लय को देखना बहुत महत्वपूर्ण है। शब्दों के आपसी संबंध, शब्दों से होते हुए एक भाव से दूसरे भाव तक पहुँचने की प्रक्रिया से यह दृष्टि विकसित होती है। विभिन्न समप्रकृति भावों और विरोधी भावों की संबद्धता और अलगाव को महसूस करना होता है। जब हम शब्दार्थ के होते हुए भाव के इस पक्ष से होकर मन:स्थिति या मनोदशा (मूड) तक पहुँचने में कामयाब होते हैं तब हम कह सकते हैं कि हमने गीत की आंतरिक लय को जानने का काम किया। इसके साथ-साथ छंद की मीमांसा भी शुरू हो जाती है। इसमें, बोल-चाल की भाषा में कहें तो मीटर को समझना और उसे अपनी रूचि एवं गीत की आवश्यकता के अनुसार तोड़ना (ब्रेकिंग द लाइन्स) एक महत्वपूर्ण काम होता है। इस तरह से एक कंपोजर गीत के कंटेण्ट से होकर गुजरता है और इसी दौरान गीत की धुन का अंकुर उसके अंदर प्रस्फुटित होता है।

गीत का भावनात्मक, संवेदनात्मक आधार

गीत के कण्टेण्ट से गुजरने के बाद महत्वपूर्ण चरण है उस गीत का भावनात्मक, संवेदनात्मक आधार तैयार करना। यह आधार कंपोजर की अपनी वैयक्तिक निजता पर निर्भर करता है। यह निजता किसी भी चीज को ग्रहण करने का अपना तरीका होती है। उसे ग्रहण करके अपनी सोच में, अनुभूति में ढालने की क्षमता होती है। इसीलिए यह व्यक्ति-दर-व्यक्ति भिन्न होती है। अत: कह सकते हैं कि कंपोजर की वैयक्तिक निजता का वैशिष्ट्य ही यह मौलिक आधार तैयार करती है। यह आधार बनाने के लिए कंपोजर गीत की परिस्थिति को ग्रहण करता है। इस गीत के कथात्मक आधार (यदि कोई है तो) को ग्रहण करता है, किसी विशेष चरित्र (नायक-नायिका या अन्य) से संबंध को समझता है। उसे सीधे संवाद के विकल्प के रूप में ग्रहण करता है, उस गीत के भावनात्मक स्तर को अपने संवेगों द्वारा आत्मसात करता है, गीत की विशेष मन:स्थिति (मूड) को अनुभव करता है। इस तरह कंपोजर उस गीत से अपनी संवेदनाओं को जोड़कर एक भावपूर्ण दृश्य अपनी चेतना में अनुभव करता है और इस अनुभव को प्राप्त करते ही उसके अन्दर उस दृश्य की सांगीतिक संरचना, संवेग (इम्पल्स) के रूप में पैदा होती है जो मस्तिष्क के माध्यम से एक इम्पल्स बनकर बाहर आती है। यही वह अंकुर होता है जो सम्पूर्णता प्राप्त करता है और जिसे हम धुन या मेलोडी कहते है।

यह आधार तैयार करने में कंपोजर के अनुभवों का अपार सहयोग होता है। यह अनुभव जीवन से जुड़े हर किस्म के अनुभव होते हैं जिनका संगीत से संबंध होना कोई जरूरी नहीं होता। इसीलिये जीवन के व्यापक अनुभवों से संगीत भी बेहतर से बेहतरीन होता चला जाता है और जिस कंपोज़र के अन्दर संवेदनशीलता का स्तर जितना अधिक होगा उसके म्यूजिकल कैरीकेचर उतने ही समृद्ध होंगे।

इस चर्चा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी गीत के धुन की रचना, उस गीत का पहला सांगीतिक भाव निरूपण होता है और यह धुन सांगीतिक भावनिरूपण के सारे अन्य तत्वों के आधार के रूप में कार्य करती है। धुन निर्माण के बाद ज्यादातर तत्व तकनीक, कौशल और अनुभव के साथ-साथ सौन्दर्यबोध के स्तर पर कार्यान्वित होते हैं। धुन निर्माण पूर्ण रूप से संगीत-मनोविश्लेषणात्मक सौन्दर्य शास्त्रीय प्रक्रिया कही जा सकती है।

भाव निरुपण के सांगीतिक तत्व

भाव निरुपण एक प्रक्रिया है। इसका कोई निश्चित फार्मेट नहीं हो सकता है। यह प्रक्रिया हर कंपोज़र के अंदर अलग-अलग तरह से पूरी होती है। कोई जरूरी नहीं कि जो चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं, वह हर कंपोजर के अंदर हो ही। फिर भी एक न्यूनतम आवश्यकता के अनुरूप मुझे प्रतीत होता है कि विषय वस्तु की सम्पूर्ण विवेचना के पश्चात् गीत की एक आधारभूत धुन कंपोजर के मन में जन्म ले लेती है और धीरे-धीरे अनुभव के अनेक आधारों से होकर गुजरते हुए इसमें गीत के सन्निहित भावों का सांगीतिक निरूपण होता चला जाता है। सांगीतिक रूप से हम यह कह सकते हैं कि संगीत के विभिन्न तकनीकी पक्षों की

सहायता से शब्दों और भावों का रंजन करना ही सांगीतिक भाव निरूपण है। यह सांगीतिक निरूपण निश्चित तौर पर सिर्फ सांगीतिक कौशल और अनुभव पर आधारित नहीं होता। इसमें एक कंपोजर के जीवन का हर अनुभव, चाहे वो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक जीवन का हो या फिर चाहे वो आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, अकादमिक हो या फिर वह अनुभव हो जो उसने परंपरा से प्राप्त किया हो। ध्वनि भौतिकी के अनेक कारक भी इस निरूपण में निश्चित तौर पर शामिल होते हैं।

मेरे मत में किसी भी गीत के सांगीतिक भावनिरूपण के लिए निम्नलिखित तत्व निर्धारक तत्वों की तरह उपयोग किए जा सकते हैं- धुन (मेलोडी), ताल पक्ष, आधार स्वर का निर्धारण (सेलेक्शन आफ की नोट), हारमोनाइजेशन, वाद्यवृंद संयोजन तकनीक, कॉर्ड प्रोग्रेसन, गायकी/वाद्यों के तत्वों द्वारा भाव बढ़ाना, संतुलन, धुन (मेलोडी)

धुन बनाना नितांत निजी और मौलिक कार्य है। इस प्रक्रिया में नियमों का निम्नतम स्तर पर पालन किया जा सकता है, क्योंकि धुन बनने के लिए पैदा होने वाले संवेग किसी नियमबद्ध तरीके या पैटर्न का पालन नहीं करते। भाव निरुपण के मद्देनज़र धुन के विभिन्न आयामों का चिंतन गीत के कण्टेण्ट से होकर गुजरते हुए अनायास ही शुरू हो जाता है। गीत को पढ़ते हुए ही मेरे मन में धुन की स्टाइल, फार्मेट, स्वरों की चाल का रूप, स्वरों के अंतरालों का पैटर्न, स्वरों की सममिति, स्वरों का उतार-चढ़ाव, उस धुन की हारमोनी के पैटर्न के विभिन्न खयाल आने शुरू हो जाते हैं।

यूँ ही किसी गीत की एक लाइन पर जरा गौर करते हैं - ''बोले न मोसे मोरा पिया.....'' अब ये लाइन पढ़ते ही मेरे मन में प्रश्न हुआ कि पिया क्यों नहीं बोल रहे हैं? नाराज हैं? कहीं और ध्यान है? चिढ़ाने के लिए नहीं बोल रहे हैं? ऐसे ही अन्य प्रश्न। अब इसके तीनों के जवाब में अलग-अलग धुन का संवेग आएगा। जैसे मान लें कि नाराज़ हैं पिया। तो यह लाइन गाते हुए दु:ख के भाव आ सकते हैं किसी स्त्री के मन में। इस भाव से वह स्थिर होकर दु:ख का अनुभव करते हुए रोने लग सकती है तो इस दशा में स्वरों की चाल स्थिर, गंभीर, धीमी हो जाएगी। ऐसे भाव अनायास ही मेरे मन में आएँगे। अब इसी लाइन के लिए दूसरी स्त्री के मन में यह भाव पैदा हो जाए कि नाराज़ हैं पिया तो चले खेल-खेल में मना लेते हैं। छेडखानी करते हुए यदि वह स्त्री इस गीत को गाएगी तो इस स्थिति में स्वरों की चाल चंचल प्रकृति की, तेज उतार-चढ़ाव करती हुई, खनकती स्वरों की श्रृंखला के रूप में मेरे मन में प्रकट होगी।

कहने का तात्पर्य यह कि धुन बनते या बनाते समय कोई निश्चित नियमबद्ध पैटर्न काम नहीं करता है पर परम्परागत और नूतन आभासीय तरीकों से उसकी परिकल्पना गीत के अनुरूप की जा सकती है। तकनीकी दृष्टि से मेलोडी का अध्ययन करें तो ये विभिन्न प्रकार की हो सकती है। हिन्दुस्तानी परिप्रेक्ष्य में यह किसी विशेष राग पर आधारित हो सकती है। जैसे ''बोले न मोसे मेरा पिया'' की परिकल्पना स्थिर, बैठी, दुखी रोती हुई स्त्री के लिए करें तो इसकी धुन पीलू राग के पूर्वांगीय विस्तार से विलम्बित या मंद्र लय में निबद्ध की जा सकती है। ऐसे और भी राग हो सकते हैं। अब यदि इसे पाश्चात्य या हिन्दुस्तान के फिल्म या सुगम संगीत के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करें तो मेजर के स्केल पर इसे खूबसूरती से रचा जा सकता है। सी शार्प मेजर के स्केल पर सर्किल आफ फिफ्थ के उपयोग से एक अच्छी धुन इस गीत के लिए बनायी जा सकती है, इसके साथ इस धुन में यदि हिन्दुस्तानी राग भी मिश्रित करना चाहे तो यमन, भूपाली आदि की छाया या रस संधान आसानी से कर सकते हैं।

धुन बनते या बनाते समय कोई निश्चित नियमबद्ध पैटर्न काम नहीं करता है पर परम्परागत और नूतन आभासीय तरीकों से उसकी परिकल्पना गीत के अनुरूप की जा सकती है।

पाश्चात्य अध्ययनों से मेलोडी के आकार या रूप में निम्नलिखित तत्व माने जा सकते हैं - डायरेक्शन . (आरोही अवरोही प्रवृत्ति), इन्टरवल, अ. डाइटोनिक- केवल स्केल के स्वरों का उपयोग (बिना किसी क्रोमैटिक अल्टरेशन) ब. क्रोमैटिक- डाइटोनिक स्केल के बजाय ऊपर और नीचे जाते हुए सेमीटोन्स का उपयोग स. स्किप्स- लंघन प्रवृत्ति, नोट वैल्यू, अ. ऑगमेंटेशन- स्वर का स्टैटिक रेशियो वैल्यू बढ़ाना। ब. डिमिन्यूशन- स्वर का स्टैटिक रेशियो वैल्यू घटाना। स. कम्प्रेशन- स्वर की डॉयनैमिक रेशियो वैल्यू घटाना। द. एक्पांशन- स्वर की डॉयनैमिक रेशियो वैल्यू बढ़ाना। इ. आर्टीकुलेशन-समान समयान्तराल में स्वर को भागो में विभाजित करना- बैलेंस।

ये सभी तत्व धुन की भावनात्मक गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं। ऐसा रॉन मिलर ने अपनी इस पुस्तक में माना है। इन तत्वों पर विस्तार से चर्चा करना यहाँ संभव नहीं हैं। परन्तु हमने इन तत्वों के निहितार्थ कोष्टक में दर्शाए हैं। ऐसे और भी तत्व हिन्दुस्तानी और पाश्चात्य संगीत के परिप्रेक्ष्य में हो सकते हैं।

ताल पक्ष

धुन का तालपक्ष भी भाव निरूपण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। किसी गीत के भावों के अनुरूप ही उसकी धुन तैयार होती है, और उसी के अनुगामी ताल संरचना का आकल्पन करना आवश्यक होता है अन्यथा पूरी धुन का मर्म शून्य हो सकता है।

आधार स्वर का निर्धारण
(सेलेक्शन ऑफ की नोट)

धुन के ताल पक्ष के बाद यह सबसे महत्वपूर्ण चरण होता है जहाँ हम इस धुन की किसी खास प्रस्तुति या रिकार्डिंग के लिए उसके आधार स्वर का निर्धारण करते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत के परिप्रेक्ष्य में इसे षडज (सा) का निर्धारण कहते है। पाश्चात्य रूप में इसे सेलेक्शन ऑफ की नोट कहेंगे जहाँ से इसके नोटेशन का की सिगनेचर बनेगा। धुन में आगे आने वाले सारे भाव निरूपण के तत्व इस आधार स्वर के निर्धारण के पश्चात् ही कार्यान्वित हो सकते हैं। इसी की लीक पर आगे धुन की हारमोनी लाइन निर्धारित होती है, डिजाइन होती है। इस आधार स्वर के निर्धारण में मुख्यत: यह बात ध्यान में रखनी होती है

हारमोनी ही वह तत्व है जो उस धुन के रंग को चमकदार बना देती है, बल्कि उसमें यह क्षमता भी होती है जिससे धुन के भाव तक परिवर्तित हो सकें। वह अपना अस्तित्व मेलोडी के बराबर बनाए रखती है।

कि धुन किस स्वर पर गायी जाए तो वह भावों का सर्वाधिक निरूपण करेगी।

हमने पहले जिस गीत की चर्चा की है उसका सा 'सी' या 'सी शार्प' रखने पर वह बहुत अच्छा प्रभाव उत्पन्न करेगी। परन्तु यदि इसके स्थान पर इसे 'एफ' या 'एफ शार्प' से प्रस्तुत करें तो वह विरह के भाव के निर्वेद और स्थायित्व को कम कर देगी क्योंकि उस स्वर से गाए जाने पर ध्वनि की तीव्रता का प्रतिकूल प्रभाव गीत के भाव पर पड़ेगा। इसके अलावा गायक-गायिका एवं आगामी वाद्यवृंद संयोजन में उपयोग होने वाले वाद्यों की प्रकृति को भी बड़ी ही चतुराई और सूझ-बूझ से अनुमानित करके की नोट का निर्धारण किया जाना चाहिये अन्यथा बाद में गायक-गायिका की आवाज और वाद्यों की टिम्बर क्वालिटी का सही उपयोग नहीं किया जा सकेगा और निश्चित रूप से भावों का उचित निरूपण नहीं हो सकेगा।

हारमोनाइजेशन

किसी भी धुन की हारमोनी ही वह तत्व है जो उस धुन के रंग को चमकदार बना देती है, बल्कि उसमें यह क्षमता भी होती है जिससे धुन के भाव तक परिवर्तित हो सकें। यह इसलिए भी होती है, क्योंकि हारमोनी स्वयं मेलोड़ी की अनुसंगी होते हुए भी अपना अस्तित्व मेलोड़ी के बराबर बनाए रखती है। हारमोनी बनाने के लिए त्वरित हारमोनी निर्माण से बेहतर होता है कि इसे पूर्व योजना के तहत बनाया जाए। कुछ हारमोनी ऐसी होती है जिनका धुन के साथ-साथ स्वयमेव ही आभास होने लगता है। जबकि यदि योजनाबद्ध तरीका अपनाया जाए तो भावनिरूपण की दृष्टि से हारमोनी ज्यादा असरदार और प्रभावोत्पादक हो जाती हैं।

हारमोनाइजेशन करने के लिए तीन चरण महत्वपूर्ण होते हैं- धुन विश्लेषण (मेलोडिक एनालिसिस), आधार मेलोडी रचना (बेस मेलोडी क्रिऐशन) और कॉर्ड चयन (कॉर्ड सेलेक्शन)

धुन विश्लेषण से हम उस धुन की विशेषताओं का विवेचन करते हैं जिससे उसकी हारमोनी के पूर्वाभास मिलें। इस दौरान ट्राईकॉर्ड्स, टेट्राकॉर्ड्स, ओवर ऑल कंसोनेंट, स्किप्स, सिमिट्री आदि पर ध्यान देते हैं। मतलब यह है कि हिन्दुस्तानी परिप्रेक्ष्य में स्वरों के अल्पत्व-बहुत्व, लंघन, वाद-संवाद, स्वर युग्मों आदि पर आधारित विश्लेषण के द्वारा धुन के लिए हारमोनी का आकल्पन करते हैं। धुन के भावात्मक रूप, उसकी शैलीगत विशेषताएँ, केडेन्स प्वाइंट्स यानी टोन से घटते या बढ़ते हुए टोनल इन्फ्लेक्शन द्वारा तैयार एक स्वर समूह (फ्रेज), स्वरों के संतुलन से संबंधित कारक और प्वाइंट ऑफ क्लाइमेक्स यानी धुन का वह हिस्सा जहाँ पर वह प्रभावोत्पादकता के चरम बिन्दु पर हो और जहाँ से वह वापस शुरूआती हिस्से की तरफ अग्रसर हो, इन बिन्दुओं पर विचार से हारमोनी की डिज़ाइन पुख्ता होती है और हम हारमोनी को धुन के अनुरूप, सौन्दर्यबोध की दृष्टि से अधिकाधिक सुन्दर रूप देकर भावों का सटीक और खूबसूरत सांगीतिक माहौल रचने के लिए तैयार करने की प्रक्रिया पूर्ण करने की तरफ बढ़ जाते हैं।

धुन के हारमोनी की आधार मेलोडी यानी बेस मेलोडी क्रिऐशन से हम किसी धुन की नींव बनाते हैं जो वैसे तो ज्यादा ब्राइट नहीं रखी जाती पर वह पूरी हारमोनी को संभालकर रखने का केन्द्र बिन्दु होती है। इसके द्वारा अनेक सांगीतिक आयाम उस धुन के लिए खोल दिये जाते हैं। इसकी रचना करते समय रूप के परिप्रेक्ष्य में स्वरों के अंतरालों की सममिति और असममिति, दिशा (मूल धुन के परिप्रेक्ष्य में चढ़ती या उतरती स्वर श्रृंखला) जिससे काउंटर प्वाइंट्स बनते हैं, अंतरालों के पैटर्न आदि का ध्यान रखने से अच्छी बेस मेलोडी तैयार होती है। इसके अलावा तेज और धीमी गति के स्वर, रूके हुए स्वर, रिपोजीशन, ट्रांजीशन, केडेंस, बेस मेलोडी की धुन के सापेक्ष गति तथा वैम्पिंग (रिदमिक स्ट्रोक्स ऑफ नोट्स ऑर कॉर्ड्स) से धुन के ताल पक्षीय सौन्दर्य को बढ़ाते हैं और यहीं से भावोत्पादकता भी बढ़ जाती है।

कॉर्ड चयन का मतलब की नोट पर धुन के अनुरूप आधार कॉर्ड (रूट कॉर्ड) की स्थापना है इसके साथ ही पूरी धुन के अनुसंगी कॉर्ड्स का चयन भी महत्वपूर्ण है। धुन में कई जगहें ऐसी आती हैं जहाँ एक ही स्थान पर कई-कई कॉर्ड्स लगाए जा सकते हैं ऐसी जगहों पर सौन्दर्यबोध के अनुसार ऐसे कॉर्ड का चयन करना चाहिए जिससे धुन के भाव और बढ़ सकें। इसके अलावा ऐसी जगह पर यदि सस्टेन्ड नोट धुन में मिल रहा हो तो वहाँ रिदम के साथ-साथ अल्टरनेटिव कॉर्ड्स और यहाँ तक कि सारे लगाए जा सकने वाले कॉर्ड्स से मिलाकर एक कॉर्ड प्रोग्रेशन भी डिज़ाइन किया जा सकता है।

फिल्म पड़ोसन के एक गाने को उदाहरण के लिए देखें - ''कहना है, कहना है आज तुमसे ये पहली बार, तुम ही तो लाई हो जीवन में मेरे प्यार प्यार प्यार।'' दूसरी लाइन में- ''तुम ही तो लाई हो जीवन में मेरे'' में हर तीन मात्रा के अन्तराल में स्ट्रोक के साथ कॉर्ड चेन्ज होता चला जाता है, जबकि मूल धुन में स्वर स्थिर है। इसी लाइन के दोहराव के समय इसी कॉर्ड सीक्वेंस पर ग्रुप वायलिन का सुन्दर काउंटर मेलोडी बनाया गया है। आप इसे सुनने पर महसूस कर सकते हैं कि वहाँ प्रभावोत्पादकता अपनी चरम पर पहुँच जाती है। समुचित कॉर्ड सेलेक्शन से भावों की रंजकता बढ़ जाती है और श्रोता गीत में सराबोर हो जाता है।

वाद्यवृंद संयोजन तकनीक

इसके अन्तर्गत हारमोनी और मेलोडी के विभिन्न भागों का विभाजन अलग-अलग इन्स्ट्रूमेंट्स के लिए किया जाता है। इसके लिए भावों का और मूड का विशेष ध्यान रखा जाता है कि कौन सा वाद्य किस मूड के लिए किस पिच पर सही होगा। इसके द्वारा विभिन्न स्थानों पर हारमोनी लाइन को लाइट/डार्क करना, स्टाइलाइजेशन ऑफ हारमोनी, फार्म/टिम्बर ऑफ साउंड का सही उपयोग, मॉड्यूलेशन आदि तरीकों का इस्तेमाल ऐसे किया जाता है जिससे गीत के भाव को सही प्रभाव प्रदान कर सकते है। ऑर्केस्ट्रेशन के दौरान ही धुन का रिहार्मोनाइजेशन भी किया जाता है। इसके लिए अल्टरनेटिव कॉर्ड्स,

एडेड नोट कॉर्ड्स, एक्सीडेंटल कॉर्ड्स, कलर्ड नोट्स, कॉर्ड वाइसिंग आदि का सहारा लेते हैं। इसके लिए सेवेन्थ कॉर्ड्स, सस्पेंडेड फोर्थ, सस्पेंडेड सेकेण्ड, डिमिनिश्ड, ऑगमेन्टेड, सिक्थ, एडेड नाइन्थ, इलेवेन्थ, थर्टीन्थ कॉर्ड्स, कार्ड इनवर्जन, हारमोनिक प्रोग्रेशन्स, मोड्स आदि के उपयोग से भावोत्पादकता और रंजकता बढ़ती है तथा धुन अधिक कलरफुल होकर उभरती है। क्लाइमेक्स प्वाइंट को विभिन्न तरीकों से और म्यूजिकल बनाया जाता है। ऑर्केस्ट्रेशन और हॉर्मोनाइजेशन के दौरान ही धुन के कार्ड प्रोग्रेशन बनाए जाते हैं अत: उनकी अलग से चर्चा की आवश्यकता नहीं है।

गायकी और वाद्यों के तत्व

ऑर्केस्ट्रेशन के बाद गायकी तथा विभिन्न इन्स्ट्रूमेंट्स के आर्टीकुलेशन, डायनामिक्स, इफेक्ट्स, ब्रीदिंग क्यूज आदि पर गहनता से कार्य करके भावों की मार्मिकता को बढ़ाया जाता है। जैसे किस स्वर पर स्ट्रोक कितना हल्का या भारी होगा, एक ही मात्रा को कितने भागों में तोड़ा जा सकता है, उसमें एमाउंट ऑफ साउंड के एसेन्डिंग एण्ड डिसेन्डिंग पैटर्न गले की अन्य तकनीकी का इस्तेमाल जैसे गमक, खटके, मुर्की इत्यादि, सांस लेने और छोड़ने की तकनीक, वाद्यों की विशेषताओं का उपयोग जैसे सरोद और सितार के कृंतन का कमाल, वायलिन के बो के चलन की तकनीक, बाँसुरी की जवारी और बिना जवारी की फूँक जैसे अनेक तत्वों द्वारा भावों की बारीकियों को उभारा जा सकता है।

संतुलन (बैलेन्स)

इसके अन्तर्गत हम उन सारे तत्वों का विवेचन करते हैं जिन्हें हमने धुन के भावनिरूपण में इस्तेमाल किया है। इस विवेचन के द्वारा हम इन तत्वों की उपयोगिता का सही परिमाण या इन्टेंसिटी निर्धारित करते हैं। अपने सौन्दर्यबोध के अनुसार कंपोजर हर तत्व की उपयोगिता का संतुलन इस तरह स्थापित करता है जिससे धुन की प्रभावोत्पादकता बढ़े। कोई ऐसा विचलन न पैदा हो जिससे श्रोता की भावानुभूति की प्रक्रिया बाधित होती हो या घटती हो, इसका विवेचन करके सारे तत्वों का परिमार्जन और परिष्कृतीकरण किया जाता है। इस संतुलन के द्वारा श्रोता के गीत या धुन से भावात्मक लगाव के स्थापन होने के सही परिमाण का पता लगाकर भावात्मक, संवेदनात्मक स्तर का निर्धारण किया जाता है। संतुलन या बैलेंस के बारे में रॉन मिलर कहते हैं -

"The best way to create a balanced melody is by relying upon ones intuitive skills when making the decisions that determine the aesthetic result. Also, how a melody is balanced, at the basic motific level to the overall form is the most important concept to consider and understand when analysing a given melody."2

अत: सांगीतिक तत्वों का संतुलन होना अति आवश्यक है जिससे की गीत का भावनिरूपण बेहतर ढंग से हो और सौन्दर्यानुभूति बढ़ाई जा सके और जिससे मेलोडी का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त हो सके।

किसी गीत के भावनिरूपण के सांगीतिक तत्वों की चर्चा के साथ यहाँ एक पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश की गयी है जिस प्रक्रिया से किसी गीत की धुन बनती है और वह धुन किसी प्रस्तुति या रिकार्डिंग के लिए परिपक्व होती है। यह एक कंपोजर की दृष्टि से की गयी चर्चा है। जरूरी नहीं है कि सभी विद्वतजनों और कंपोजर्स को इससे साम्य का अनुभव हो परंतु एक कंपोजर और एक अच्छा श्रोता होने के नाते मैं यह मानता हूँ कि न्यूनतम स्तर पर इन तत्वों का उपयोग एक अच्छी धुन तैयार करने में और उसमें गीत के सांगीतिक भावनिरूपण करने में अवश्य किया जा सकता है।

संदर्भ - 1. रॉन मिलर, मोडल जाज़ कम्पोजीशन एण्ड हारमोनी वाल्यूम, 2 पेज 16

पलाश वन को लाँघते

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

मार्च-अप्रैल में जब कभी मध्यप्रदेश के निमाड़ के सुदूर अंचलों में दौरे पर जाता हूँ तो तपती धूप के बीच भी गाड़ी के काँच उतार लिया करता हूँ। ड्राइवर से कहता हूँ- गाड़ी हौले-हौले चला। गाड़ी दौड़ती रहती है ऊबड़-खाबड़ सड़क पर और निहारती रहती है पलाश-वन। कतार की कतार टेसू (पलाश) के फूलों से लदे हुए वृक्षों की दीखती है, और वृक्षों के नीचे अंगारे बिछे दीख पड़ते हैं।

एक ठंडी केरिया आँच के बीच का सफर बहुत सुगंधमय होता है। मन भर जाता है एक मादक गंध से, ऐसी गंध से, जो होती ही नहीं। वास्तव में टेसू गंधहीन होता है। लेकिन मन यदि लबरेज हो संवेदना से, तो सबसे ज्यादा खुशबू उन्हीं फूलों की महसूस होती है जो गंधहीन होते हैं, फिर वह चाहे टेसू हो, गुलमोहर हो या अमलतास। यह मादक गंध इस टेसू के पौरुषमय सौन्दर्य की गंध होती है जो मन के पुरुषार्थ को जगाती है। यह गंध नासिका के रन्ध्रों की गंध नहीं, बल्कि पूरे शरीर के रोम-रोम में समा जाने वाली गंध होती है। मेरी पूरी देह टेसू के वृक्षों की कतार के बीच गुजरते झंकृत-सी होती है, वह खुद पलाशमय हो जाना चाहती है, टेसू की कतार में खड़ी हो जाना चाहती है, लेकिन तभी गाड़ी आगे बढ़ जाती है, पलाशवन पीछे छूट जाता है।

अब आँखों के सामने कहीं बबूल है, कहीं झाड़ियाँ, कहीं नीलगिरि और कहीं न जाने कौन-कौन से अपरिचित वृक्ष, जो भले हरे हों लेकिन मोहते नहीं। पलाश-वन को कब लाँघ लिया, यह ज्ञात ही नहीं हो पाता। आँखों के सामने अब बबूल है और पीछे टेसू, लगता है जैसे कोई गर्मी में नर्मदा के ठंडे जल में डूबा रहके, निकले किनारे पर और तुरंत उसके पाँव तपती रेत पर पड़ें। मुझे बबूल से कोई नफरत नहीं। बड़ा हरा भरा वृक्ष होता है जिसकी पत्तियाँ और कोमल काँटे पशु बड़े चाव से खाते हैं, लेकिन इसके अलावा बबूल के अस्तित्व की अहमियत नहीं। उसके कठोर काँटे बहुत चुभते रहे हैं और इन काँटों से हर यात्री के पाँव लहूलुहान होते रहे हैं। जाने कितनी सदियाँ बबूल की वजह से रक्तिम पदचिह्नों की साक्षी बनीं। इसलिए बबूल कभी किसी रचनात्मक बोध का पर्याय नहीं बन पाया और टेसू बहुत बाँधता रहा हर मन को।

ये पलाश के मोहक और अल्पजीवी वन बड़ी जल्दी लाँघ लिये जाते हैं। इनकी शोभा का अस्तित्व बड़ा अस्थायी होता है। इनकी याद सिर्फ बसन्त में आती है। ऐसा क्यों नहीं होता कि पलाश की यह केशरिया शोभा मन में बारहों मास विराजी रहे, उसका पौरुषभरा सौन्दर्य हमें हर पल उद्वेलित करता रहे? जब-जब दौरे पर जाता हूँ, इन वनों को थोड़े-थोड़े अन्तराल के बाद निहार आता हूँ और गंतव्य तक पहुँचने पर फिर न बबूलों में उलझ जाता हूँ जो मेरी बाट शहर में भी जोहते रहते हैं।

मेरी पूरी देह टेसू के वृक्षों की कतार के बीच गुजरते झंकृत-सी होती है, वह खुद पलाशमय हो जाना चाहती है, टेसू की कतार में खड़ी हो जाना चाहती है, लेकिन तभी गाड़ी आगे बढ़ जाती है, पलाशवन पीछे छूट जाता है।

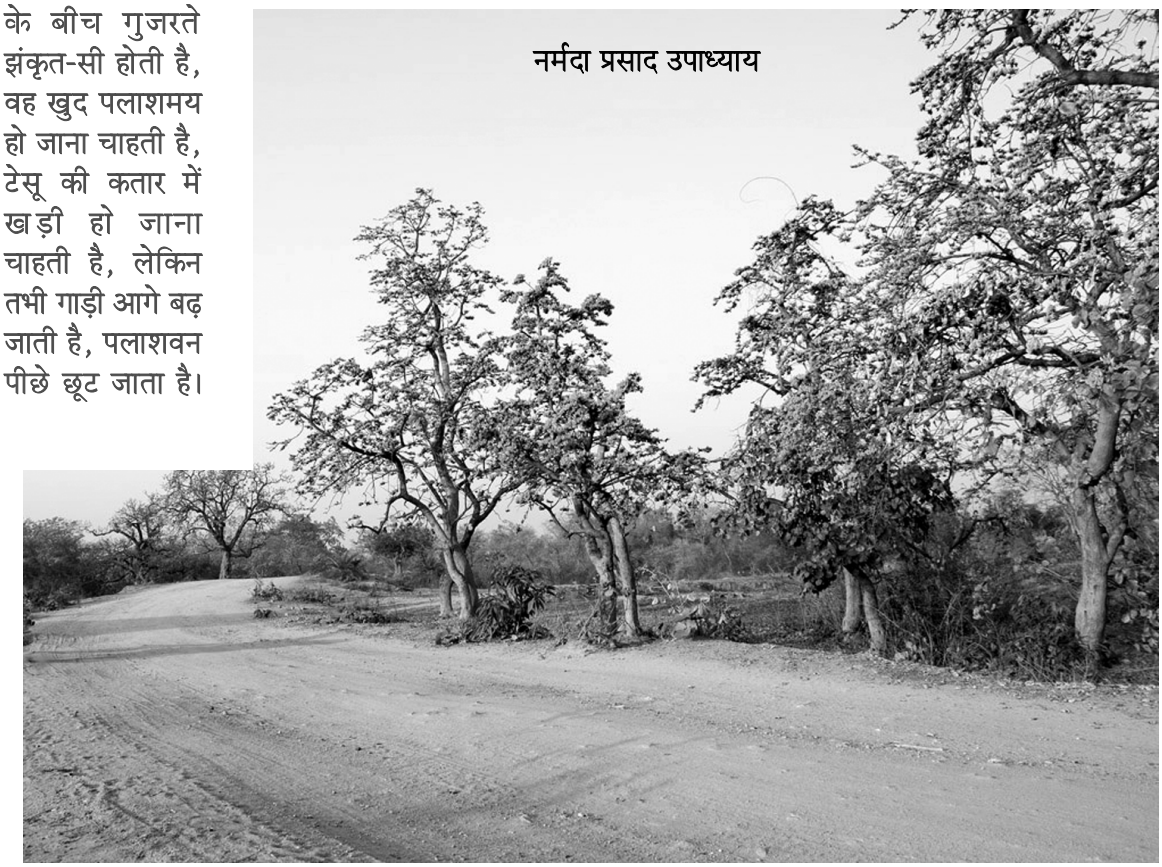

अब निमाड़ और उससे सटे हुए अंचलों में टेसू अपने पूरे यौवन में खिला होता है, तभी इन अंचलों में भगोरिया की हाटें भरनी शुरू होती हैं। शाइदा (ताड़ी) पिए आदिवासी के हाथ में पावली (बाँसुरी) होती है, सिर पर रंगीन पगड़ी या झकाझक टोपी। वह अपने मन में पूरे वसंत को समेटे प्रणय रचाने निकल पड़ता है और उसकी इस मोहक छवि को निहारती बालाएँ डोलती रहती हैं। अपना पूरा श्रृंगार कर आँखों से निहारती रहती हैं, अपने मन में रम जाने वाले प्रणय-पुरुष को। प्रणय के इस भोले व्यापार के साक्षी होते हैं बर्फ के रंगीन लड्डू, गुड़ की जलेबी और गुलाल। मादल की थाप पर ताड़ी की मदहोशी में पैर थिरकते हैं, और यह थिरकन तभी थमती है जब दोनों एक-दूसरे के गाल पर गुलाल मल देते हैं, एक-दूसरे को पान खिला देते हैं और फिर दोनों एकात्म होने इस सारे उत्सव को छोड़कर एकान्त में, टेसू के वनों में ओझल हो जाते हैं।

इस प्रणय-उत्सव की परम्परा के कई किस्से हैं। कहते हैं यह उमा-महेश्वर की प्रणय परम्परा का प्रतीक है या अलीराजपुर तहसील के भगोर ग्राम से इसकी शुरुआत हुई, लेकिन इतिहास की ये किवदंतियाँ इस प्रणय-उत्सव की स्वाभाविक जीवंतता के आगे फीकी है। निसर्ग के आँगन में इस भोले प्रणय की भंगिमाओं की छटा हर वसंत को वसंत बनाती है। आदिवासी का निश्छल प्रणय, उत्सव को प्राणहीन औपचारिकता से मुक्त करता है। उसका प्रणय बड़े सहज भाव से आलिंगनमय होता है। भुजपाश में बाँधने के लिए वह वरमालाएँ नहीं सहेजता, तोरण द्वार नहीं सजाता, गुलाल को मुट्ठियों में भरता है और पान के बीड़े उसके आजीवन बंधन के साक्षी पुरोहित बन जाते हैं। इस मौसम में इन मस्त आदिवासियों की टोलियाँ बेपरवाह घूमती दीख पड़ती हैं। मेरी गाड़ी इन टोलियों के बीच से निकल जाती है, और बड़ी हसरत से निश्छल भाव को निहारते मैं बबूलों की ओर बढ़ा चला जाता हूँ।

अपने आसपास के अंचल के आँचल में इतना सब-कुछ बिखरा है, लेकिन क्यों मैं उसकी निश्छलता और पौरुष-भरे सौन्दर्य से एकात्म नहीं हो पाता? क्यों पलाश के वन बड़ी जल्दी पीछे छूट जाते हैं और बबूल पीछा नहीं छोड़ते? क्यों सिर्फ शब्द बोध को लिख भर देते हैं और बाद में इन शब्दों के प्राण भी खो जाते हैं और बोध की जीवंतता भी? कभी-कभी यह भी सोचता हूँ कि क्या सिर्फ जीवन-भर प्रश्नों की ही लड़ाई लड़ना है और क्या कभी संतोष के समाधान मिल पाएँगे?

लगता है यह चिंतन ही ऐसे प्रश्नों को जन्म देता है। मैं अपने अंचल की निश्छलता और अपने आसपास फैले निष्पाप निसर्ग के सौन्दर्य से एकात्म हो सकता हूँ। मैं सँजो सकता हूँ टेसू के पौरुष-भरे सौन्दर्य को अपने-आप में। मैं शब्द भी प्राणवान बनाए रख सकता हूँ और बोध भी। मैं जरूर संतोष और तृप्ति के समाधान पा सकता हूँ। लेकिन इस सबके लिए मुझे अपना अभिजात्य त्यागना होगा, अपना दोमुँहापन छोड़ना होगा, तोड़ना होगा उन अहं के पर्वतों को जो मेरे और इस पलाश-वन के बीच खड़े हो गए हैं। इस तोड़ने से ही जुड़ाव जन्मेगा। यही तोड़ना शब्दों को अर्थवत्ता देगा, यही त्याग एकात्म स्थापित करा पाएगा। जब तक कर्म और विचार के धरातल पर पारदर्शिता नहीं पैदा होगी, तब तक ये प्रश्न जन्मते ही रहेंगे। इस प्रश्नावली का अंत नहीं होगा।

हम इतने विचारों, दर्शनों और उपकरणों में उलझे हुए हैं कि यह उलझाव एक बाधा बन गया है। हम साधना चाहते हैं दोनों छोरों को, लेकिन संतुलन कायम नहीं रहता। सध जाने और साध लेने में बड़ा फर्क है। सध जाना सहज है, लेकिन साध लेना बड़ा कृत्रिम और कठिन है। साध लेने के चक्कर में कई सवाल पैदा होते हैं और सवालों के इस भँवर में आदमी खो जाता है। जबकि सध जाना, सायास कभी नहीं होता, सध जाना बड़ा स्वाभाविक हुआ करता है। सध जाने में कोई कृत्रिमता नहीं होती। जो साधने की कोशिश करते हैं उनसे सधता नहीं; सध उनसे जाता है जिन्हें साधना नहीं आता। सधा तुलसी से, कबीर से, मीरा से, निराला से, और नहीं सधा तो उन असंख्य साधकों से जो सायास इतिहास में सुरंग लगाकर पैठने की कोशिश करते रहे।

गाड़ी दौड़ती जाती है सड़क पर। सड़क कहीं सीधी है, कहीं बल खाई। वर्तमान की यह सड़क हमारे अतीत का अक्स है। इतिहास कभी सपाट है तो कभी इतना घुमावदार कि उसमें कहाँ खो जाएँ, मालूम नहीं। यह सड़क भी अतीत से आज तक साधने वालों की याद दिलाती है। इस सड़क से कई साधक गुजरे, लेकिन उनके पाँवों के निशान तक इसने सहेजकर नहीं रखे। इसने सिर्फ अपना अस्तित्व ही सहेजकर रखा और वह अस्तित्व भी सदैव एक जैसा नहीं रहा। कभी उसे किसी ने सीधा किया, किसी ने टेढ़ा। क्या मायने हैं ऐसे अस्तित्व के जो अपने स्वाभिमान की कीमत पर कायम रखा जाए? सोचता हूँ यह सड़क भी उन साधकों की तरह निकली जो सिर्फ साधने में लगे रहे। इन साधकों की तरह इस सड़क का भी मूल रूप जाने कब विलीन हो गया। ऐसी सड़क से वह पगडंडी प्रणम्य है जो रुनकता में बनी सूर की जीर्ण शीर्ण कुटी से गंगा के गऊ घाट तक जाती है। वह पक्की और चमकदार नहीं है। पत्थर है, कंकर हैं, धूल ही धूल है उस पगडंडी पर, लेकिन उस पर चलो तो सूर के रस में मन की समूची अस्मिता भीग जाती है। यह सहज सध गई पगडंडी है जिसने अपने अस्तित्व को कभी सँवारे जाने की कोई कोशिश नहीं की। ऐसी सहज-सधी पगडंडियों पर चलो तो बेहद याद आते हैं बुद्ध और महावीर, जिन्होंने राजमार्गों को त्यागा और इन पगडंडियों की धूल को रस से सराबोर कर दिया। पगडंडी सहज सध जाने का नाम है और सड़क है साधने की एक कोशिश।

मैं गाड़ी में बैठकर पलाशवन को सड़क पर दौड़ते हुए लाँघ जाता हूँ, लेकिन वे भगोरिया में शामिल होने वाले भील जाने कहाँ की पगडंडियों से आते हैं और प्रणय भाव में डूबे उत्सव के चलते एक-दूसरे के गालों पर गुलाल मलकर पलाश-वन में खो जाते हैं, उससे एकात्म हो जाते हैं। इतिहास में न उस सड़क को रहना है, न उस गाड़ी को, न मुझे, लेकिन जब तक सृष्टि है तब तक ये पगडंडियाँ भी रहेंगी, ये निश्छल युगल भी, टेसू के केशरिया वन भी। मैं तो सिर्फ उसी साहस की प्रार्थना करता हूँ जिसके बूते पर मैं गाड़ी से उतरकर टेसू के वृक्षों की कतार में गंध से सराबोर हो खड़ा रह जाऊँ।

उन्हें मटियारी महक खोने का मलाल था

मौसिकी की दुनिया में सदाबहार सुरीले मौसम की तरह छाए प्रख्यात पार्श्वगायक मन्ना डे इस बात से मायूस थे कि आज के गीत-संगीत से मटियारी महक काफूर हो गई है। एक दौर था जब हिंदुस्तानी लोक जीव और संस्कृति संगीत से हमजोली करते नजर आते थे, उनमें जज़्बात बोलते थे। हमारी आवाजें, उस संगीत से मेल खाती थीं। दुर्भाग्य से यह खुशबू गायब हो गई है। सिने संगीत का पुराना दौर सदा हमारी रूह में कायम रहेगा।

छियासी की उम्र में छरहरे बदन और प्रफुल्लित मन लिए शैल-शिखरों की नगरी भोपाल को अपनी कंठ माधुरी से सरसाने आए थे मन्ना दा। कई दिनों से भोपाल के संगीत रसिकों के मन में उन्हें सुनने की तिश्नगी थी और मध्यप्रदेश के संस्कृति महकमें की 'अनुश्रुति' संगीत श्रृंखला में एक नायाब मनके की मानिंदता मन्ना ने अपनी मौजूदगी दर्ज की। शायद यह उनकी भोपाल में पहली और आखिरी आमद साबित हुई। उस दिन दिल खोलकर बातें कीं। मुंबई से उड़ान भरकर भोपाल की सरजमीं पर कदम रखे तो आते ही गुफ्तगू का सिलसिला शुरू कर दिया। पुरानी फिल्मों और उनके नग्मों को याद किया तो मौजूदा दौर के संगीत पर खुलकर अपनी राय जताई।

स्मृति शेष : मन्ना डे

उन्हें इस बात का गहरा दुख था कि गायकों की मौजूदा पीढ़ी रियाज़ पर कम तथा व्यावसायिकता पर ज्यादा ध्यान दे रही है। इसका सबसे बड़ा नुकसान यह होगा कि लाख गाने के बावजूद इनकी सार्थक पहचान नहीं बन पाएगी। सोनू निगम, उदित नारायण, श्रेया घोषाल, कविता कृष्णमूर्ति, अलका याज्ञनिक, सुनिधि चौहान जैसे कलाकार निश्चित ही बहुत बेहतर गा रहे हैं। लेकिन दुख इस बात का है कि इनके सुरों को बर्मन, रोशन, मदनमोहन जैसे तपस्वी संगीत निर्देशकों की धुनें नहीं मिल पा रही हैं।

नए गायकों में किसी मन्ना डे की संभावना को पूरी तरह नकारते हुए पद्मश्री तथा पद्म विभूषित इस सुर साधक का साफतौर पर कहना था कि दरअसल उस दौर में लंबे अभ्यास और घंटों, दिनों तथा महीनों की साधना के बाद कोई गीत रिकार्ड होता था। हर सुर और धुन को रत्ती-मासा की तरह तौला जाता था। उन्होंने अपना उदाहरण देते हुए कहा कि फिल्म 'मदर इंडिया' का गीत- 'दुख भरे दिन बीते रे भैया' के लिए रोशन साहब ने मुझसे दस दिन रिहर्सल कराई थी। उनका साफ मानना था- ''जैसी धुन बनेगी वैसी ही नगमें को आवाज़ मिलेगी।'' मन्ना को नए संगीतकारों में खोजी प्रवृत्ति तथा ज्ञान का रुकाव भी काफी खलता था। वे सवाल करते थे- ''अभिजीत सावंत जैसे अनेक गायक स्टेज शो देते हुए आज पुराने गायकों के गीत गाकर तो काफी ख्याति अर्जित कर रहे हैं लेकिन क्या ये अपने किसी गीत से लोकप्रियता हासिल कर पाए हैं।'' अपनी लोकप्रियता का श्रेय सदा वे अपने तपस्वी उस्तादों तथा अपने प्रसिद्ध गायक चाचा के.सी. डे, पंकज मलिक, के.एल. सहगल जैसे महान गायकों को देते जिनकी सोहबत में उनकी आवाज ने नित नए मुकाम हासिल किए) वे कहते थे- ''बाबा मन की आँखें खोल'' मन की गठरी का जैसे अकाल पड़ गया है।

अपने चहेते संगीत निर्देशक तथा अपने ही किसी गीत से ख़ास लगाव के सवाल पर उन्होंने फरमाया था- ''किसी एक को केंद्रित करते हुए कुछ भी कहना काफी कठिन है। रोशन द्वारा संगीतबद्ध ''लागा चुनरी में दाग छुपाऊँ कैसे'' और ''तू प्यार का सागर है'' जैसे गीत भी हैं तो मेहमूद जैसे हास्य कलाकार के लिए ''एक चतुर नार करके सिंगार, प्यार की आग में तन-बदन जल गया और आओ ट्विस्ट करें'' सरीखे गीत भी हैं। दरअसल वो दौर ही ऐसा था, जिसमें घटिया भी बहुत अच्छा साबित हुआ। मन्ना दा ने मुस्कुराकर कहा था- ''अब मैं शाहरुख खाँ या अभिषेक बच्चन के लिए नहीं गा सकता। मेरी आवाज़ की तासीर आज के अभिनय पक्ष से कतई मेल नहीं खाती।'' याद किया कि तलत मेहमूद, मुकेश, किशोर कुमार, हेमंत कुमार, लता, आशा सहित उस दौर के सभी कलाकारों में गजब का आपसी तालमेल था, एक परिवार की तरह रहते थे। सभी काफी मिलनसार थे।

विनय उपाध्याय

टी.वी. पर आयोजित संगीत प्रतियोगिताओं को औचित्यहीन बताते हुए मन्ना ने कहा- ''इससे किसी कलाकार का भला होता है या इनके जरिए उसका खास मुकाम बनेगा, यह मानना सरासर बेमानी होगा।'' यश चोपड़ा व लता द्वारा एक चैनल पर आयोजित 'मेरी आवाज सुनो' कर्यक्रम के एक एपीसोड में सुनिधि चौहान अपनी आवाज पेश कर रही थीं। निश्चित ही उसने बहुत अच्छा गाया था। कार्यक्रम समाप्त होने पर मैंने यश चोपड़ा से पूछा- ''क्या इस गायिका को आप अपनी किसी फिल्म में मौका देंगे। उन्होंने साफ इंकार कर दिया। बताइये किसी प्रतियोगिता में भागीदारी कर सफल होने के बावजूद किसी कलाकार का क्या भविष्य है?''

आवाज़ में घुला रेशमी अहसास

स्मृति शेष : रेशमा

मंजरी सिन्हा

पाकिस्तान की मशहूर गायिका रेशमा के निधन की खबर हिन्दुस्तान के लिए एक गहरा सदमा है, क्योंकि उनका संगीत हमारी साझी विरासत की मीठी मिसाल था। रेशमा का नाम और संगीत जब देश-विदेश में अपनी बुलंदियों को छू रहा था तब भी राजस्थान की अल्हड़ बंजारिन उतनी ही फक्कड़ और भोली भाली थी। बदलते जमाने की हवा और कृत्रिमता उन्हें छू भी नहीं पाई थी और वह मस्तमौला गायिका अपनी ही धुन में, अपने ही मन की तरंग पर गाती रही। उनके निधन की खबर एक टीस बनकर जाने कितनी भूली बिसरी यादों को कुरेद रही है।

बात 1988 की है जब दिवंगत अशोक खन्ना के घर आयोजित 'श्रुति' की एक महफिल में उन्हें जी भर कर सुनने और कार्यक्रम के बाद दिल खोल कर उनसे बात करने का मौका था। इस महफिल का आगाज उन्होंने शाम के बेहद मीठे राग यमन में अलाप के साथ 'लाल मोरी पत रखियो, जरा झूलेलालाण... दमादम मस्त कलंदर' से किया तो बेसाख्ता महफिल शुरू से ही रंग में आ गई थी। कम लोगों को यह मालूम होगा कि रूना लैला से लेकर तमाम कव्वालों द्वारा गाए इस भक्ति गीत की असली गायक रेशमा थीं। झूलेलाल की बंदगी का यह वही गीत है, जिसे किसी पीर की दरगाह पर भक्ति विह्वल स्वरों में गाती इस श्रद्धालु गायिका को शब्दशः सिजदे से उठा कर मलिका-ए-तरन्नुम नूरजहाँ मंच पर ले गई थीं और भरी सभा में स्वीकारा था- हम तो सीखे सिखाए हैं, कुदरत का करिश्मा देखना हो तो इसे सुनें...।' रेशमा की आवाज वाकई कुदरत का करिश्मा थी, पूरी तरह सुर में डूबी हुई, सर्वथा अकृत्रिम, खुले आकर, खुले गले और खुले दिल से निकलती बेबाक और बेलौस आवाज।

एक बार कार्यक्रम देने इंग्लैण्ड गई तो बच्चा बीमार पड़ गया। डॉक्टर ने बच्चे की उम्र पूछी तो अंदाजन पांच-छह साल का बताया। डॉक्टर ने पैदाइश का महीना और तारीख पूछी तो भोली रेशमा का जवाब था 'जी उस समय आम और खरबूजे का मौसम था।' मासूमियत के साथ ही इनका मिजाज हंसी-मजाक वाला भी था। मजाकिया वाकये वह इतनी संजीदगी से सुनातीं कि सुनने वाला हंसते-हंसते लोटपोट हो जाए।

रेशमा की गायी रूमानी चीजें भी दोमानी हैं- इश्क हकीकी के साथ-साथ इश्क मजाजी का अहसास कराने वाली। बांके बिहारीजी की भक्त ताज बेगम की एक चीज सुनाकर उन्होंने मुझे हैरत में डाल दिया था। 'सुनो दिल जानी, मेरी दिल की कहानी हाथ बिकानी, बदनामी भी सहूंगी मैं तज कलमा-कुरान, मैं नमाज हूं भुलानी हूं तो मुगलानी, हिंदुआनी बन रहूंगी मैं नंद के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पे सर पे है ताज, सरताज तो है कुल्लेदा तेरे हाथ आई, बदनामी भी सहूंगी मैं।' इसे सुनाकर रेशमा ने इसे अपनी पसंदीदा चीजों में शुमार किया था।

रेशमा को अपनी अंतरात्मा की आवाज पर भी अविचल आस्था थी। और यह आस्था आखिर तक कायम रही। अपनी इसी यात्रा से पहले वे लंदन जा रही थीं जहाँ उनका कार्यक्रम था। उन्हें इलहाम आया और वे दुबई की उड़ान छोड़कर दिल्ली आ गईं। वे मन की तरंग पर चलती थीं और मन की उमंग से गाती थीं। और उनसे जोर-जबर्दस्ती नहीं गवा सकता। फिल्म हीरो के लोकप्रिय गीत 'लंबी जुदाई' के लिए भी वे दिलीप कुमार की गुजारिश पर पिघलीं 'आप दिलीप साहब हो इस वास्ते मैं गा दूंगी।'

रेशमा के गाए 'दमादम मस्त कलंदर...', 'मैं कमली दे ढोलां...', 'हाए रब्बा नी लगदा दिल...', 'मैं प्यार कीता...' जैसे गाने गाकर जाने कितने गायक-गायिकाएं आसमान पर पहुंचे, लेकिन वे खुद आखीर आखीर तक जमीन पर ही रहीं। उनकी आवाज को सुनकर कालिदास की उपमा- 'अनाघ्रातं पुष्पम' याद आती थी।

उनका गाना अपने इष्ट देवता से लौ लगाने का जरिया था। कैसी विडंबना रही कि गले के कैंसर ने उनका वह सुरीला गला छीन कर जीते जी उनकी जिंदगी छीन ली थी। भले ही आज वे हमारे बीच नहीं रहीं पर उनकी यादों और उनके गाए गीतों का खजाना उनके चाहनेवालों के पास हमेशा महफूज रहेगा। उनकी रूहानी आवाज यह 'लंबी जुदाई...' सहने की शक्ति देगी।

इंदिरा गांधी ने जब एक दफा रेशमा को सुना तो भावावेश में अपने हाथ की घड़ी उतार कर भेंट देनी चाही पर अपने को नाचीज मानने वाली इस भोली बंजारिन ने बड़ी विनय से कहा 'इसका मैं क्या करूंगी। आप तो सरकार हो, अगर कुछ देना ही है तो वार्डर (देश की सीमा) तुड़वा दो ताकि राजस्थान जाकर मैं जब चाहूं अपने पीर को मत्था टेक आऊं।'

लोक के शिखर कथाकार का जाना

स्मृति शेष : विजय दान देथा

प्रकाश कांत

एक ऐसे समय में जब हर तरह का लोक-जीवन और स्थानीयताएं खतरे में पड़ी हों, तब हिन्दी-राजस्थानी के वरिष्ठ रचानाकार विजयदान देथा (बिज्जी) का अवसान स्थानीयताओं को बचाने के लिए लड़े जा रहे युद्धों के एक अहम किले के ढह जाने जैसा है। सत्तासी वर्षीय देथा फणीश्वर नाथ 'रेणु' और नागार्जुन की तरह ही ग्रामीण व लोक-जीवन के रचनाकार थे। रेणु व नागार्जुन के यहाँ अगर बिहार का लोक-जीवन अपने समूचेपन में व्यक्त हुआ था तो 'बिज्जी' के यहाँ राजस्थान का। राजस्थान युद्धों और रेगिस्तान की भूमि रहा है। वहाँ के बेहद मुश्किल जीवन की सारी आवाजें 'बिज्जी' के लेखन में अपनी गूंज-अनुगूंजों के साथ सुनी जा सकती हैं। चूंकि भारत का साठ फीसद से ज्यादा हिस्सा अब भी गांवों में आबाद है, इस हिसाब से लोक-जीवन से जुड़े साहित्य को मुख्यधारा के साहित्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए था। पर ऐसा किया नहीं गया। किया जाता तो 'बिज्जी' जैसे रचनाकारों का असली कद भी समझ में आता।

तादाद और विविधता के हिसाब से 'बिज्जी' का लेखन विराट रहा है। कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, संपादन, निबंध, लोकोक्ति संग्रह, कोश निर्माण एवं बाल साहित्य। लगभग पौन सदी के सृजनात्मक जीवन में 'बिज्जी' ने जितना काम किया, वह हैरान करने वाला हो सकता है। माता-पिता की जल्दी मृत्यु हो जाने से पढ़ाई के लिए बड़े भाई के साथ बचपन में भले ही उन्हें इधर-उधर भटकना पड़ा हो, लेकिन बाकी जीवन वे राजस्थान और अपने गांव बारुंदा से जुड़े रहे। उन्होंने राजस्थान के लोकगीत, लोकसंगीत के संरक्षण के लिए भी महत्वपूर्ण काम किया। ग्लोबलाइजेशन के इस दौर ने लोक-कलाओं के सामने जहाँ अस्तित्व का संकट पैदा किया है, वहीं 'बाजार' ने इसके मूल रूप को विकृत भी किया है। 'बिज्जी' ने इस संकट व चुनौती को समझा। वे जानते थे कि राष्ट्रीय पहचान को बचाने के लिए देशज पहचानों को बचाना जरूरी है, जो बोली-भाषा, लोक संस्कृति को बचाने से ही संभव हो सकेगा।

'बिज्जी' का रचनाकार मन बांग्ला, रूसी साहित्य के मिले-जुले प्रभाव से तैयार हुआ था। यूँ रचना कर्म भले ही उन्हें विरासत में मिला हो और उसकी जड़ें राजस्थान के लोक-जीवन में रही हों, इसके बावजूद उन्होंने देशी-विदेशी भाषाओं के साहित्य के स्वरों को अनसुना नहीं किया। उनकी बुनियादी प्रेरणाओं को समझा, ग्रहण किया और लेखन के लिए अपनी भाषा राजस्थानी को चुना। यूँ राजस्थानी लंबे समय तक हिन्दी की ही एक उपभाषा के रूप में ही स्वीकृत रही। उसे स्वतंत्र भाषा का दर्जा बाद में मिला। 'बिज्जी' का लेखन राजस्थानी में है। उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार भी उनके चौदह खंडों वाले राजस्थानी कथा संग्रह 'बातां री फुलवारी' के दसवें खंड के लिए मिला। उनका लेखन हिन्दी में अनूदित होकर आया। हजार से ऊपर कविताएं, सैकड़ों कहानियां, उपन्यास (महामिलन), निबंध वगैरह में फैले 'बिज्जी' के सृजन ने राजस्थानी साहित्य को काफी समृद्ध किया।

'बिज्जी' लोक-साहित्य परंपरा के कथाकार थे। लोक-साहित्य और लोक-कलाएं उस सामूहिक जीवन पद्धति के उत्पाद रहे हैं, जो इधर तेजी से खत्म होती जा रही हैं। बहरहाल, 'बिज्जी' ने न सिर्फ कथा-कथन (स्टोरी टेलिंग) की शैली लोक-कथाओं से ली, बल्कि अपनी कथाओं का अंतर्वस्तु और ढांचा भी वहीं से उठाया। लोक-कथाओं को एक बिल्कुल नए भाव बोध के साथ रखकर उन्होंने लोक-कथाओं का पाठ भी बदला और उसे समसामयिक बनाया। यह कोशिश बाद में कुछ कथाकारों ने भी की। लोक-कथाओं वाली किस्सागोई और कथारस उनकी रचनाओं की बुनियादी खासियत रही, जिन्हें लोक-जीवन में शुरू से मौजूद रहे तिलस्मों और फंतासियों ने नए अर्थ देते हुए दिलचस्प बनाया। उनकी इन रचनाओं ने अगर बौद्धिक फिल्मकार मणि कौल को आकर्षित किया तो वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध समझे जाने वाले श्याम बेनेगल को भी। उनकी कहानी का नाट्य-रूपान्तर 'चरणदास चोर' तो हबीब तनवीर जैसे नाटककार की पहचान ही बन गया। कला और मनोरंजन से जुड़ी इन बड़ी शख्सियतों के अलावा लोक संवेदना का धनी यह लेखक युवा पीढ़ी के सृजनधर्मियों को भी समान रूप से प्रिय रहा। बिज्जी के अपने सूबे की कला मंडलियों से लेकर दीगर प्रदेशों के अनेक रंगकर्मियों ने कई राजस्थानी कथाओं को बिज्जी के संग्रह से उठाया और उन्हें रंगमंच पर अपनी तरह से पेश करने का साहस बटोरा।

विविध और विराट सृजन-संपन्न शख्सियत के संदर्भ में उन्हें मिले-बिनमिले पुरस्कारों-सम्मानों की बात करना इसलिए भी फिजूल है कि इससे उनके असली कद में कोई फर्क नहीं पड़ता।

विकल कला–आत्मा

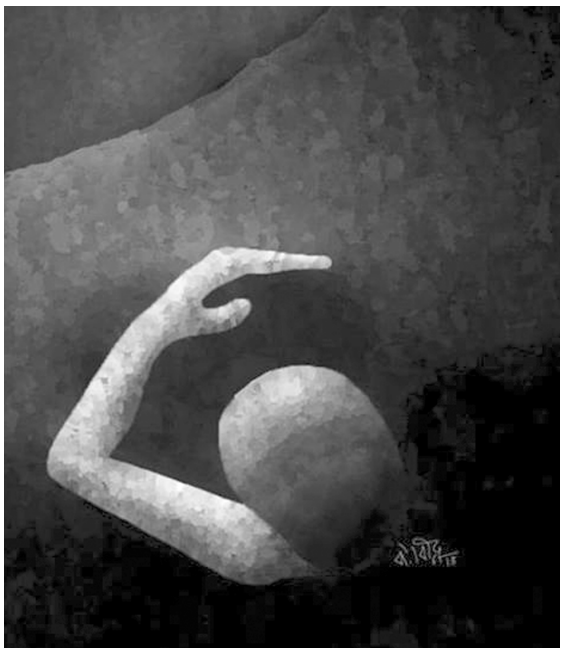

रंगों के संसार में जाऊं तो मैं कुँवर रवीन्द्र को पिकासो के बताए दूसरी तरह के चित्रकार के रूप में देखता हूँ। उनमें रंगों से इस तरह पेश आने की प्रतिभा, कला और बुद्धिमत्ता है जो छोटे कैनवास की रोशनी को बड़े फलक पर स्थापित कर सके।

आकलन : शिरीष कुमार मौर्य

चित्रकला से कवि का कुछ तआल्लुक हमेशा होता है, ऐसा मेरा मानना है। फिर, भले ही वो कोई सीधा तआल्लुक न हो। हमारी कविता में बनते सामाजिक, राजनीतिक और निजी अनुभूतियों के चित्र हमें कला की ओर खींचते हैं और यहीं से हमारी कला भी निर्धारित होती है। विडम्बना देखिए कि अकसर ही कलावाद-रूपवाद से हमारा राजनीतिक विरोध कला से विरोध समझ लिया जाता है। जबकि मेरे लिए कविता खुद एक सामाजिक कला है। चित्रकारों का कविता प्रेम भी किसी से छुपा नहीं है। इस तरह चित्रकला, कविता और समाज के बीच एक समीकरण बनता है, जिसे सामाजिक सम्बन्ध कहा जाना चाहिए। इधर कुँवर रवीन्द्र के कलाकर्म में मुझे इस सम्बन्ध और अपनी तद्विषयक मान्यताओं को प्रमाणित करने का अद्‌भुत अवसर मिला है।

मेरा चित्रकला से कुछ सीधा सम्बन्ध भी रहा है। स्वयं कुंवर रवीन्द्र (के. रवीन्द्र), परिचय के आरम्भिक दौर में मुझे मेरे बनाए रेखांकनों से ही जानते थे, कविता का रिश्ता बाद में जुड़ा। मेरे कला-संस्कार भाऊ समर्थ की किताब 'चित्रकला और समाज' से विकसित हुए जनवादी संस्कार हैं। भाऊ के रेखांकनों और वरिष्ठ चित्रकार हरिपाल त्यागी की संगत से प्रेरित हो मैंने रेखाओं पर काम करना शुरू किया जो बाद में आकृतियों और टेक्सचर के जटिल विन्यासों तक प्रभावी रहा। मैंने हिन्दी की अधिसंख्य लघु और सरकारी पत्रिकाओं के लिए रेखांकन किए और इस तरह अपने अनगढ़ काम से प्रशिक्षित, प्रतिबद्ध और समर्पित कलाकारों के काम का सम्मान करना सीखा।

मैं हर चीज़ के बारे में बात नहीं करता पर हर चीज़ का चित्र बनाता हूँ- *पिकासो*

उपरोक्त कथन कुँवर रवीन्द्र के चित्रों पर लागू होता है। मैंने कुंवर रवीन्द्र के चित्र टुकड़ों-टुकड़ों में देखे हैं। किताबों के आवरणों पर, पत्रिकाओं में और सबसे अधिक इंटरनेट पर। पूरे कैनवास पर चित्र को देखने और उसके ब्यौरों में जाने का अनुभव यहाँ कम्प्यूटर स्क्रीन की झिलमिल में डूब-सा जाता है लेकिन जो मिलता है वह भी कम नहीं। कितनी ही चीज़ें हैं वहाँ जो अनायास ही जरूरी हैं और उनका चित्रों में आना भी वैसा ही जरूरी है। श्रोता को अपना एक स्पेस दे रही होती हैं। कुँवर रवीन्द्र अपने चित्र को ऐसा ही एक स्पेस देते हैं, हम अपने आसपास को उसमें रख सकते हैं। इन आकृतियों को देखते हुए सल्वादोर डाली का यह कथन भी याद आता है कि पूर्णता का भय मत रखो, तुम उस तक कभी नहीं पहुँचोगो... लगता है इन आकृतियों की अपूर्णता अपने आप में इसी अर्थ में सार्थक हैं... इनके चित्रकार में पूर्णता तक पहुँचने का कोई प्रयास नहीं, उस मानवीय अपूर्णता का सम्पूर्ण और विनम्र स्वीकार है जो विचार या वस्तु को कला-रूप में अभिव्यक्त करने में होती है।

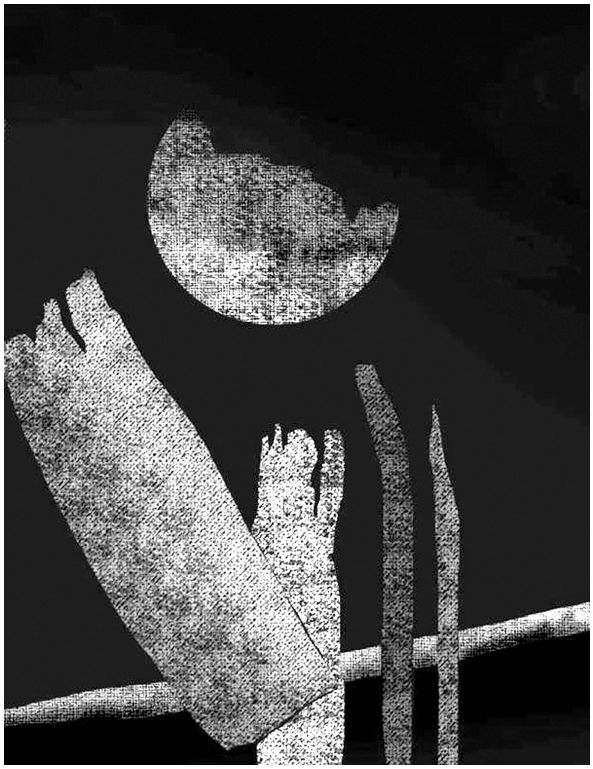

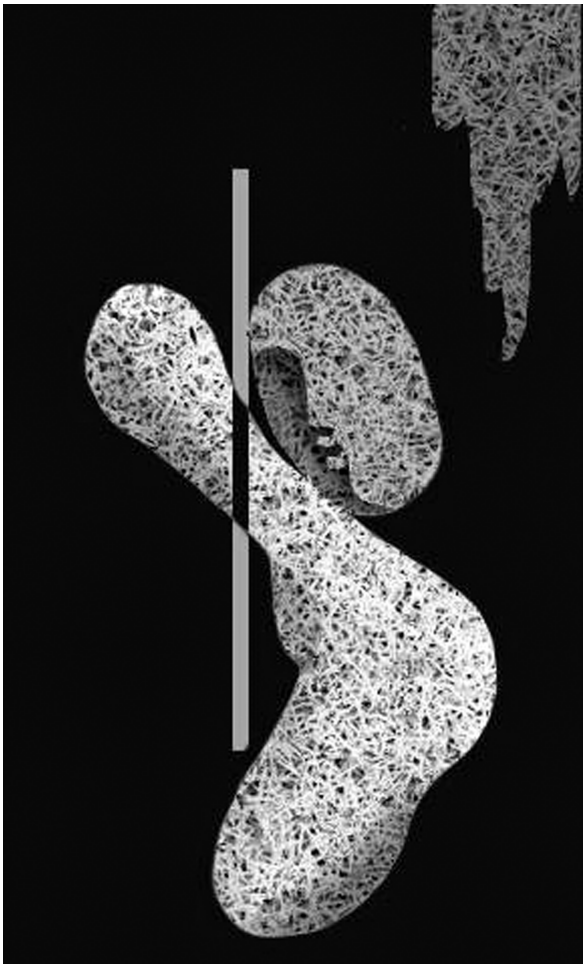

रंगों में कुँवर रवीन्द्र का चयन गाढ़े की ओर है। हल्के रंग अपवाद हैं। हैं तो उनमें भी एक व्यक्त सान्द्रता है। रंगों से जो जादू होता है उसे पिकासो ने कुछ यूँ उजागर किया है- एक तो वे चित्रकार हैं जो सूर्य को एक पीले धब्बे में बदल देते हैं लेकिन वहाँ दूसरे भी हैं। धन्य है उनकी कला और बुद्धिमत्ता, जो एक पीले धब्बे को सूर्य में बदल देते हैं। रंगों के संसार में जाऊं तो मैं कुँवर रवीन्द्र को पिकासो के बताए दूसरी तरह के चित्रकार के रूप में देखता हूँ। उनमें रंगों से इस तरह पेश आने की प्रतिभा, कला और बुद्धिमत्ता है जो छोटे कैनवास की रोशनी को बड़े फलक पर स्थापित कर सके। इन चित्रों का टेक्सचर वर्क आकृतियों से अधिक रंगों में खुलता है। ये रंग कहीं अवसादमय हैं तो कहीं अपनी उम्मीदों में खिले और खुले हुए।

कुँवर रवीन्द्र के चित्रों में न जाने क्यों मुझे एक भोलापन दिखता रहा है, जिसके प्रति मैं निरन्तर आकर्षित होता और मन ही मन उसे सराहता रहा हूँ। चित्रकार में कौशल, त्वरा, बुद्धि, बड़प्पन सब होता है पर वह अपने चरम पर तब होता है जब उसमें बालसुलभ पवित्रता और अनगढ़पन हो। यह कोई संयोग नहीं होगा कि पिकासो ने भी इसे स्वीकार किया है- रफेअ्ल की तरह चित्र बनाने में मेरा कुछ वर्षों का अभ्यास लगेगा लेकिन एक बच्चे की तरह बनाने में मेरी जिन्दगी गुज़र जाएगी। यह दुनिया भर के उस्तादाना हुनर के बरअक्स कला का एक अधिक मनुष्यवत् पहलू है, जिसे पहचाना जाना चाहिए और जिसकी कद्र की जानी चाहिए।

कुँवर रवीन्द्र अभी ठीक वही काम करने की कोशिश में हैं, जो एक वक्त तक भाऊ और हरिपाल त्यागी ने किया। ऐसी चित्रकला अपने लोगों के संसार को उजागर करने की कला है और इसकी अपनी एक परम्परा है। चित्तोप्रसाद और अशोक भौमिक अभी इस क्षेत्र के बड़े नाम हैं। इसमें बाजार के सामने झुकने का कोई प्रसंग नहीं, बल्कि उससे जूझने के सैकड़ों प्रयत्न हैं। कुँवर रवीन्द्र के चित्र भी आज अपनी आकृतियों और रंगों के साथ एक हस्तक्षेप है। बड़ी आर्ट गैलेरियों में सजने वाले दूसरे चित्रकारों ने जहाँ कला के क्षेत्र 'पदार्पण' किया है, वहां कुँवर रवीन्द्र का यह 'हस्तक्षेप' एक बिलकुल अलग अर्थ और महत्व की विषयवस्तु है। यह सुकून और सजावट भरी जगहों में गर्व से पग धरने के बरअक्स उलझनों, संघर्षों और जटिल सामाजिक प्रसंगों में हाथ डालने के बीच का बड़ा फर्क है, जिसे समय रहते पहचानना चाहिए। पिकासो के अनुसार कला आत्मा से दिन भर की धूल झाड़ देती है... यह बात सिर्फ कलाकार के लिए नहीं है, उसकी कला के चाहने वालों के लिए भी है। कुँवर रवीन्द्र ऐसा ही कर दिखाने वाले प्रिय चित्रकार हैं।

चित्रकारी डायरी लिखने का ही एक और तरीका है- *पिकासो*

कुँवर रवीन्द्र के जितने भी चित्र मैंने देखे, विभिन्न माध्यमों में जिनकी संख्या सौ से ऊपर ही होगी, मुझे लगा कि वे एक लगातार लिखी जा रही डायरी के महत्वपूर्ण अंश हैं, लेकिन यह डायरी कोई निजी डायरी नहीं, एक सामाजिक डायरी है। इस सामाजिक डायरी में छत्तीसगढ़ के आदिवासी संसार की प्रतिच्छायाएं हैं, वहाँ के मोरम की कठोर लाली, चट्टानों का ठोस किन्तु विकल हृदय और एक साफ सजल कला-आत्मा, जिसे मैं अपना यह आत्मीय सलाम पेश करता हूँ।

नई शैली को साधुवाद

सम्मान : बंसी कौल

हिन्दी पट्टी के संघर्षशील रंगकर्मियों के लिए इस बरस गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या उस वक्त गुशंगवार हो उठी जब भारत सरकार के पद्मश्री सम्मान के लिए बंसी कौल का नाम सुर्खी बना। मध्यप्रदेश (भोपाल) में अपनी रंग सक्रियता का अंतराल पार करने और यहाँ रंग विदूषक नामक अपनी पूर्णकालिक रेपर्टरी की स्थापना करने वाले इस नाट्य निर्देशक और रंग शिल्पी के नाम की अनुशंसा मध्यप्रदेश से नहीं बल्कि उनके गृहराज्य कश्मीर से हुई, यह नोट करने की बात है लेकिन पद्मश्री से खिलखिलाये भोपाल के नाट्य जगत को कौल ने अपनी इस उपलब्धि का श्रेय दिया। सम्मान की घोषणा के समय वे दुबई प्रवास पर थे और मीडिया को फोन पर दी प्रतिक्रिया में उन्होंने यही दोहराया।

बहरहाल लगभग ४० वर्ष की रंग निष्ठा के प्रति यह राष्ट्रीय स्वीकृति बंसी कौल के लिए और उनके साथ जुड़े 'रंग विदूषक' के कलाकारों के लिए नये उत्साह का संचार है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्नातक बंसी देश के एक मात्र ऐसे रंगकर्मी हैं जिन्होंने हिन्दी रंगमंच पर विदूषक शैली का पुनराविष्कार कर आधुनिक नाट्य संवेदना और सम्प्रेषण का एक सर्वथा नया पुल तैयार किया और अपने इस अनूठे काम के लिए वे देश-देशांतर में स्वीकारे-सराहे जाते रहे हैं। अपनी इस पहचान के साथ बंसी कौल के कई नाटक गिनाये जा सकते हैं जिनमें 'रंग बिरंगे जूते' से लेकर अनोखी बीबी, खेल गुरु का, जादू जंगल, पचरात्रम्, तुक्के पे तुक्का, बच्चों का सर्कस, सोच का दूसरा लाभ, मानों हमारी बात, समझौता, कहन कबीर, किस्से आफन्ती के, सौदागर प्रमुख हैं।

बंसी कौल देश के एक मात्र ऐसे रंगकर्मी हैं जिन्होंने हिन्दी रंगमंच पर विदूषक शैली का पुनराविष्कार कर आधुनिक नाट्य संवेदना और सम्प्रेषण का एक सर्वथा नया पुल तैयार किया और अपने इस अनूठे काम के लिए वे देश-देशांतर में स्वीकारे-सराहे जाते रहे हैं।

रंग विदूषक ने अनेक प्रतिष्ठित नाट्य समारोह में भाग लिया वहीं अहिन्दीभाषी क्षेत्रों चैन्नई, विशाखापट्टनम, बैंगलोर, त्रिवेन्द्रम, पणजी, कलकत्ता आदि शहरों में अपने नाटकों का नाट्योत्सव भी आयोजित किये। रंग विदूषक के कलाकारों ने थाईलैण्ड, सूरीनाम, कोलम्बिया, फ्राँस, वैनेजुएला, करकस, करासोवा, बांग्लादेश, भूटान, डेनमार्क, सिंगापुर एवं पाकिस्तान का भ्रमण किया तथा बैले, आपेरा और शेक्सपीयर थियेटर से साक्षात्कार किया। विचारों का आदान-प्रदान हुआ, शहरी एवं ग्रामीण तथा लोक कलाकारों के बीच। विचार के स्तर पर भी तथा व्यवहार के स्तर पर भी। बकौल बंसी व्यवहार के पृथक विचार पर हमारा भरोसा नहीं है। हम प्रेक्टिस में से नई तकनीकों और विचारों को प्राप्त करना चाहते हैं। बल्कि एक स्तर पर हमारी कोशिश तो इस व्यवहार से ही नई अभिनय शैलियाँ एवं नई स्क्रिप्ट्स को भी प्राप्त करने की है। इस दिशा में रंगविदूषक ने पचपन नाटकों का मंचन किया। बंसी कौल के अनुसार इन नाटकों में जहाँ एक ओर वन्य प्राणी संरक्षण, पर्यावरण के प्रति सजगता, यातायात के नियम पालन, साक्षरता, ध्वनि प्रदूषण आदि बिन्दुओं को चिन्हाँकित किया, वहीं कम्प्यूटर युग में समाप्त होती हुई संवेदनाओं को भी जगाने का प्रयास किया गया है। बहुमंजिला इमारतों में अब खेल के मैदान समाप्त होते जा रहे हैं। इसलिये अब रंगमंच का दायित्व बढ़ गया है। इसलिये वर्तमान में रंगमंच में गंभीर विचार-विमर्श की आवश्यकता है, नये रंगकर्म अन्वेषित करना जरूरी है। इसके लिये जितनी आवश्यकता नई स्क्रिप्ट्स की है उतनी ही आवश्यकता है, नये रंगकर्म अन्वेषित करना जरूरी है। इसके लिये जितनी आवश्यकता नई स्क्रिप्ट्स की है उतनी ही आवश्यकता अभिनय और फॉर्म की नई तकनीकों को ईजाद करने की भी। इस कोशिश में भी हमें कुछ उपलब्धियाँ हासिल हुई हैं। शायद नाटक की एक नई भाषा को ईजाद करने के लिये सबसे सही मौका भी यही है कि हम इसे एक नई पौध से शुरू करें।

अपनी रंग यात्रा के इस पड़ाव पर कर बंसी दा कहते हैं- ''मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो मुझे लगता है कि हम बहुत देर तक चलते रहे। हम सब लोगों ने मिलकर काफी मेहनत भी की, सिर्फ रंग आंदोलन के लिये नहीं, बल्कि हिन्दी क्षेत्र के थियेटर को एक नई दिशा देने के लिए और ये कोशिश हमेशा जारी भी रहेगी।''

बंसी और रंग विदूषक की सक्रियता के सहभागी कवि-नाटककार राजेश जोशी का मानना है कि सूत्रधार और विदूषक संभवतः भारतीय नाटक के दो ऐसे चरित्र हैं, जो उसे दुनिया के दूसरे नाटकों से अलग करते हैं। लेकिन विदूषक की दुनिया उतनी भर नहीं है, जितनी हम संस्कृत के नाटक या भारतीय रंगकर्म को लेकर किये गये शास्त्रीय विवेचनों से जानते हैं। संस्कृत नाटक के विदूषक से बाहर भी विदूषक की एक दुनिया है। लोक नाट्य में उसके अलग स्वरूप और रंग हैं। रंग विदूषक इसी प्रक्रिया का परिणाम है। कहा जा सकता है कि वह इस प्रक्रिया का उत्पाद है जो विचार और सृजनात्मक व्यवहार से पैदा हुआ और इसके लिए बंसी कौल साधुवाद के हकदार हैं।

-विनय उपाध्याय

‘अनुदान’ की चौखट में घिर गया नाटक

समकालीन हिन्दी रंगमंच के हालातों पर गौर फरमाते ही उसकी गुणवत्ता पर आज अनेक सवाल घिर आते हैं। जो और जैसा हो रहा है उसमें ‘श्रेष्ठता’ की संभावनायें अब प्रायः नदारद हैं। निर्देशक से लेकर अभिनेता और दीगर पहलुओं को साधने वाले तमाम कलाकार नाटक का रिश्ता रोजी से जोड़ते हुये सरकारी अनुदान की जुगाड़ में मशगूल हैं। सब जल्दी में भी हैं। साधना का धीरज गायब हो गया सा लगता है। केन्द्र और राज्य सरकारों की हितकारी योजनाओं के प्रचार प्रसार के लिये नाटक का इस्तेमाल अब कुछ रंगकर्मियों के लिये उम्मीद की किरण है तो कुछ स्वाभिमानी और प्रतिभा के धनी कलाकारों को यह सब नागवार और नाटक जैसी लोकतांत्रिक विधा के लिए गैरबाजिव लगता है। अधिकांश की राय है कि इस प्रोजेक्ट संस्कृति ने रंगमंच का बेहद नुकसान किया है। जिद, जुनून और जद्दोजहद के बीच परवान चढ़ने वाला नाटक कुछ प्रभावी जुगाडुओं के लिए नफे का सौदा है तो कुछ कम हैसियत वाले संघर्षशील रंगकर्मियों के लिए आज भी दूर की कौढ़ी है.... *इन चिंताओं को साझा करता संवाद रंगकर्मी ब्रजेश अनय ने ‘रंग संवाद’ के लिये समेटा है।*

प्रस्तुति
ब्रजेश ‘अनय’

भोपाल के वरिष्ठ रंगकर्मी प्रमोद तांबट का कहना है- ‘‘भोपाल में जो नाटक हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश भारत-सरकार की फंडिंग से हैं। इसका सीधा-साधा अर्थ है कि ये सभी नाट्य-समूह, उन सरकारों के ‘इंट्रेस’ सर्व कर रहे हैं, जो उन्हें पैसे दे रहे हैं। दूसरी बात, रंग समूहों को नाटक के विकास के संघर्ष को इस तरह से पलीता नहीं लगाना चाहिए।’’ वहीं विवेचना रंग-मंडल, जबलपुर के निर्देशक/अभिनेता अरुण पांडे सीधे-सपाट सूत्र में अपनी बात कहते हैं, ‘‘....जो जिसकी खायेगा, उसकी तो गाएगा...।’’

कई नाटकों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर चुके अभिनेता संतोष पणिक्कर की धारणा है कि ‘‘...या तो सरकारी योजना लागू नहीं हो रही, तो कमी-बेशी और कटाक्ष उचित है। हाँ, यह गलत है, नाटक को अगर प्रचार का माध्यम बनाया जाता है। नाटक एक ऐसी विधा है, जो इससे अछूती है। नाटक का मूल उद्देश्य है, पूरे समाज को साथ लेकर चलना!’’

भोपाल में रंगकर्म कर चुके और इन दिनों उज्जैन में अभिनव रंगमंडल, उज्जैन के वरिष्ठ रंगकर्मी गिरजेश व्यास, इस विषय-विचार पर ही प्रश्नचिन्ह लगाते हुए कहते हैं कि ये जितने भी सामाजिक सरोकार वाले काम होते हैं, ये किसी पार्टी की बपौती नहीं हैं! इस तरह के प्रश्नों को कोई उठाता है, तो लगता है, कि हम किसी पार्टी का प्रचार कर रहे हैं। वे जोड़ते हैं, ‘‘पूरे प्रश्न पर ही मुझे आपत्ति है। हर जागरूक जाग्रत ग्रुप का कर्तव्य है कि वो इस तरह के मुद्दे उठाये।’’

लगभग ढाई दशकों से थियेटर की दुनिया से बावस्ता और भोपाल के ‘त्रिकर्षि’ रंग समूह के संस्थापक निर्देशक के.जी. त्रिवेदी दो टूक फरमाते हैं ...यदि फंडिंग के लिए काम किया जा रहा है तो ठीक है, लेकिन ये ‘प्रोजेक्ट-संस्कृति’ के आने के बाद से रंगमंच में गंभीरता, समर्पण और नाटक की पवित्रता काफी हद तक नष्ट हुई है...।’’ भोपाल में लंबे अरसे तक रंगकर्म कर चुकीं ‘रंगयात्री’ संस्था, भोपाल, रायपुर की संस्थापक मालविका जोशी की राय राजनीति से तौबा करने और निरपेक्ष भाव से काम करने वाले थियेटर की हिमायत

करती है। उनका कहना है कि मेरे हिसाब से किसी पार्टी का हम प्रचार-तारीफ नहीं करें, बुराई नहीं करें, 'न्यूट्रल' रहें तो ज्यादा बेहतर होगा।

म.प्र. बालरंग मंडल के पूर्व निदेशक और 'चिल्ड्रन्स थियेटर अकादमी, भोपाल के साथ निरंतर सक्रिय रंगकर्मी प्रेम-गुप्ता अनुदान की परिभाषा स्पष्ट करने की दरकार जताते हैं। उनके अनुसार, सरकार द्वारा दिए गए अनुदानों के तहत तमाम संस्थाओं की प्रस्तुतियाँ, उनके काम देखने से विदित होता है कि सरकार द्वारा किये गए आर्थिक सहयोग की भरपाई की जाती है, लेकिन कोई भी ठोस कार्य निष्पादित नहीं होता, क्योंकि दिए गए अनुदान संस्थाओं के लिए नाकाफी होता है। संस्थायें कागज की भरपाई भर कर देती हैं। जबकि हकीकत में जो संस्थायें कार्य कर रही होती हैं, उन्हें पर्याप्त सरकारी अनुदान मिल ही नहीं पाता है।

जुझारू रंगकर्मी और प्रयोगशील निर्देशक तथा 'विवेचना रंग समूह' जबलपुर से संबद्ध वसंत काशीकर थोड़े निराश नजर आते हैं- ''दुर्भाग्य की स्थिति में है भारतीय रंगमंच। मुझे शौकिया रंग-आंदोलन का भविष्य अंधेरे में दिख रहा है। रंगकर्म करना कई तरह से महंगा हुआ है। रंगमंच का किराया, थियेटर का किराया जितना बढ़ गया है, वह रंगकर्मियों पर भारी पड़ रहा है। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ है कि नाट्य-दल 'रेपर्टरी' में तब्दील हो गये हैं। सरकार की ग्रांट, स्कालरशिप और प्रोजेक्ट की तरफ नये लड़के भाग रहे हैं! नतीजा यह है कि प्रतिरोध की ताकत कमजोर हो रही है। अभी कुछ दिन तो प्रतिरोध थियेटर चलेगा, आगे के बारे में क्या कहा जा सकता है? नयी पीढ़ी न गाँव को जान रही है, न आमजन की समस्याओं को पहचान रही है...।''

वहीं प्रसिद्ध कवि और नाटककार राजेश जोशी भी सरकारी ग्रांट को नाटक की असल ताकत के हित में नहीं मानते। गौरतलब है उनकी टिप्पणी- ''अगर ऐसा हो तो गलत है क्योंकि नाटक हमेशा प्रतिरोध का माध्यम रहा। नाटक करना दिनों दिन महंगा हुआ है लेकिन नाट्य दलों ने एक वैकल्पिक थियेटर विकसित नहीं किया, जिसे कम साधनों में किया जा सके। इसलिए, नाटक, एक तरह से सरकार आश्रित हो गये। इस स्थिति से बाहर आकर ही नाटक को बचाया जा सकता है...।''

नाटक हमेशा प्रतिरोध का माध्यम रहा। नाटक करना दिनों दिन महंगा हुआ है लेकिन नाट्य दलों ने एक वैकल्पिक थियेटर विकसित नहीं किया, जिसे कम साधनों में किया जा सके। इसलिए, नाटक, एक तरह से सरकार आश्रित हो गये। इस स्थिति से बाहर आकर ही नाटक को बचाया जा सकता है...।''

-राजेश जोशी

एक मुद्दत से भोपाल के रंगमंच की बनती बिगड़ती छवियों के साक्षी और सहभागी रहे अभिनेता और 'रंगयात्री' भोपाल के निर्देशक विवेक 'मृदुल' मानते हैं ''प्रचारात्मक नाटकों से किसका भला होना है सिवाय सत्ताधीशों के, क्योंकि उनकी जो पॉलिसी है, उसमें जनता हित उतना नहीं है, जितनी आँकड़ेबाजी है। दूसरी बात, ऐसा नहीं है कि नाटकों से कोई बात प्रचारित करना 'ऐसा' अपराध है, मगर जब सबमें इस तरह की बातें दिखती हैं तो ये सोची समझी रणनीति लगती है। तीसरी बात, ये नाटक, जो नाटककार कहने का दंभ भरते हैं, उनके लिए डूब मरने की बात है क्योंकि कोई भी कला मनुष्य को अधिक मानवीय बनाने के पक्ष में होती है, उसको वोट बैंक के लिए इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, ये सरासर अनैतिक है...।''

मध्यप्रदेश सिंधी साहित्य अकादमी के निदेशक और वरिष्ठ रंगकर्मी अशोक बुलानी गुजश्ता दौर की याद करते हुए मौजूदा तब्दीली से शिकायती स्वर जोड़ते हैं- ''पहले रंगकर्म में जोश था, जज्बा था, जुनून था, पैसा नहीं था, पैसे की कोई परवाह भी नहीं करता था, 'घर फूँक तमाशे का आनंद' था। अब थियेटर में पैसा है, पर आनंद नहीं है, सिर्फ 'जुगाड़' की मारामारी है। कहीं किसी 'फेस्टिवल' में 'शो' मिल जाए, प्रोजेक्ट मिल जाए, पैसा मिल जाए- पब्लिक आये न आये बला से, अखबार में तो आना ही है, क्योंकि यहाँ अखबार वाले दरियादिली से सबको कवरेज देते हैं। थियेटर में पैसा आये, कोई अपना घर चलाये, बुराई नहीं, पर मिलने वाला पैसा सभी कलाकारों को मिले, ऐसा सुनने को नहीं मिलता। प्रोजेक्ट की जुगाड़ वाला खाली अपना हक समझता है। बुलानी कहते हैं कि दिल को छूने वाला अभिनय, स्क्रिप्ट, प्रोडक्शन में गहराई, सब दोयम हो गये हैं- पैसा, पैसा और सिर्फ पैसा! रेर्पटरी ग्राँट, प्रोजेक्ट ग्राँट, जहाँ रंगकर्म की गुणवत्ता की ताकत बनने का जरिया होना था पैसा वहीं गुणवत्ता को ठेंगे पर रखने का काम हो रहा है। ऐसे (शोज) भी देखे हैं, जहाँ पब्लिक के नाम 10 (दस) लोग भी नहीं, पर वीडियो शूट हो रहा है क्योंकि उसे किसी 'नेशनल फेस्टिवल' में शामिल करने के लिए सीडी भेजनी है।

यदि दर्शक ही नहीं, दर्शकों की प्रशंसा और शाबासी की अनमोल दौलत ही नहीं तो, मिलने वाला पैसा किस काम का...? पान-बीड़ी की दुकान से कमाई जैसा काम हो गया है आज का 'प्रोजेक्ट थियेटर...।''

सन् '80 में भोपाल में 'इप्टा' की स्थापना करने वाले और सईद मिर्जा के अनेक सफल धारावाहिकों (नुक्कड़/सर्कस इत्यादि) की लेखकीय टीम के अहम सदस्य वरिष्ठ रंगकर्मी मुकेश शर्मा का कहना है- ''थियेटर के दर्शक के नाते हमें सब्जेक्ट देखकर तय करना होता है कि हम प्रस्तुत तथ्य के पक्ष में हैं या

विरोध में! हम 'भ्रूण हत्या' के अगर विरुद्ध हैं और शासकीय प्रोपेगंडा भी भ्रूण-हत्या का विरोध कर रहा है और नाटक में यह सब आ रहा है, तो हम उसका विरोध क्यों करेंगे? किसी नाटक को इसलिए 'सिलेक्ट' या 'रिजेक्ट' नहीं किया जा सकता, कि उसमें कुछ सरकारी योजना की 'छायायें' हैं।

नब्बे के दशक में जो प्रोजेक्ट-संस्कृति आई, उसमें कुछ खामियाँ आई जरूर हैं। 'एन.जी.ओ. वाद' ने नुक्कड़ नाटकों को सरकारी योजनाओं के लिए सफलता के साथ इस्तेमाल किया था। इससे कई रंगकर्मी जुड़े थे। धीरे-धीरे यह बीमारी 'प्रोसिनियम थियेटर' तक भी पहुँची। यह रंगकर्म का अंदर का संघर्ष है, उम्मीद है, भारतीय रंगमंच अपना रास्ता निकाल लेगा...।''

भोपाल की रंगयात्रा में शामिल और उसके निष्पक्ष आलोचक रहे रामप्रकाश त्रिपाठी की टिप्पणी भी बेहद मौजूँ है- ''नाटक का पूरा परिदृश्य बदल सा गया है। नाटक ऐतिहासिक रूप से प्रतिपक्ष की आवाज रहा है। अभिजन के मुखालिफ और आमजन के पक्ष में। नाटक का चरित्र संस्कृतकाल से यही रहा है। कभी संभव नहीं हुआ कि नाटक को सत्ता के पक्ष में किया जा सके। इन दिनों मगर कुछ नाटक निहायत 'भडैंती' की शक्ल में नजर आते हैं। यह दुर्भाग्य 'प्रोजेक्ट ओरियेंटेड थियेटर' की अवधारणा के साथ आया है।

त्रिपाठी जोड़ते हैं कि भारत में नई आर्थिक नीति के बाद सब कुछ उल्टा पुल्टा हो रहा है। सत्ताधारी की कोशिश रही है, कि शब्द की धार कम कर दी जाए। पुस्तक संस्कृति, कविता, साहित्य सबकी नौकें दी जाएं। सब कुछ उत्तर-आधुनिक रंग में ढल जाए। शिक्षा नीति, उद्योग नीति आदि के बदलने और उत्पादन और श्रम संबंधों में तब्दीली के चलते महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग के चरित्र में परिवर्तन आया। छोटे परदे के आकांक्षी युवा-वर्ग ने श्रमशील रंगकर्मियों की जगह ली, और नाटक को सीढ़ी बनाया। यह वर्ग ऐसा था, जो सीधे-सीधे 'कैरियर' की खातिर आया। वह आसानी से 'प्रोजेक्ट' के हाथों बिक गया। संघर्ष की जगह आसानियों ने ले ली। इससे शौकिया रंगकर्म आंदोलन कमजोर हुआ।

रामप्रकाश कटाक्ष करते हैं कि जिस समय में 'सहस्त्राब्दी-महानायक' जैसे पद बने हों, और 'महानायक' साबुन, तेल और करोड़पति बनने के झूठे भ्रम बेच रहे हों, ऐसे में व्यापार और व्यामोह संभव है। मगर, खबरदार रहे सरकार कि यह भ्रम-लीला लंबी नहीं चलेगी...।

शिक्षा नीति, उद्योग नीति आदि के बदलने और उत्पादन और श्रम संबंधों में तब्दीली के चलते महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग के चरित्र में परिवर्तन आया। छोटे परदे के आकांक्षी युवा-वर्ग ने श्रमशील रंगकर्मियों की जगह ली, और नाटक को सीढ़ी बनाया। यह वर्ग ऐसा था, जो सीधे-सीधे 'कैरियर' की खातिर आया। वह आसानी से 'प्रोजेक्ट' के हाथों बिक गया।

-रामप्रकाश त्रिपाठी

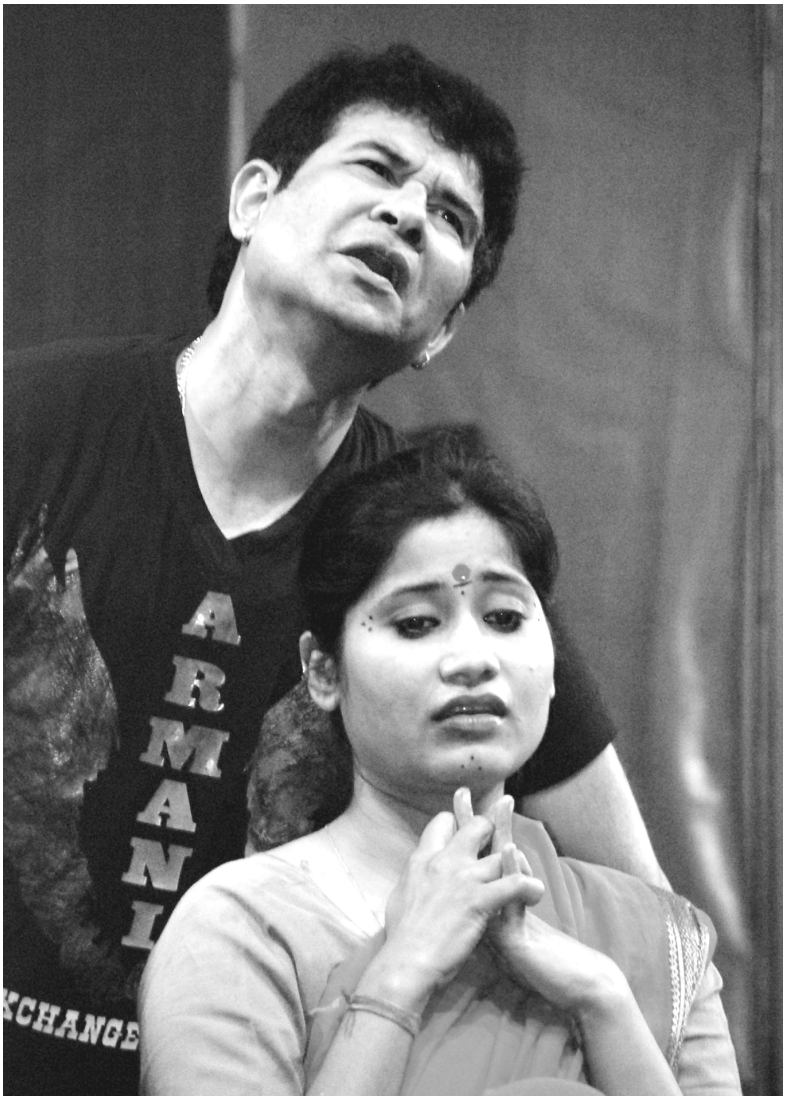

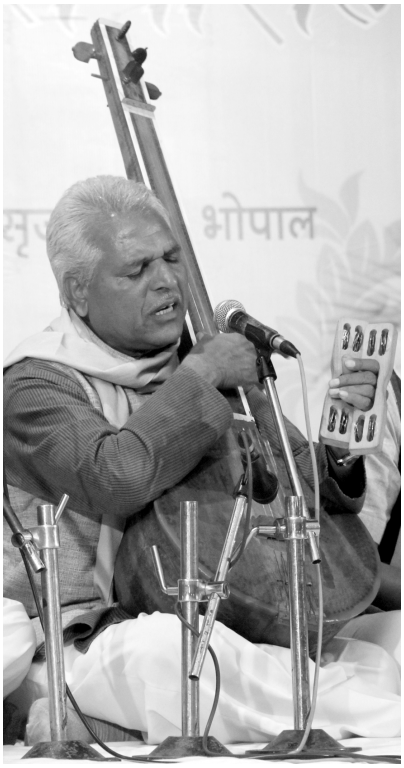

प्रहलाद सिंह टिपाणिया

इसे कबीर के भक्ति पदों का प्रताप कहें, मालवी मिठास का असर या टिपाणिया की स्वर-साधना का सम्मोहन; अब यह जग जाहिर है कि गाँव के चौक-चौपाल और मेलों-ठेलों तक सिमटा यह लोक स्वर अब देश-देशान्तर की सैर करता एक विराट समाज की आत्मा में घुल रहा है। निश्चय ही इसका बड़ा श्रेय मध्यप्रदेश के उज्जैन जिले के लूनियाखेड़ी गाँव में जन्में, पले-बढ़े टिपाणिया को जाता है। कबीर के प्रति पारंपरिक निष्ठा और कबीर पंथ के प्रति व्यापक उदारता के लिए उनकी गहरी जूझ और निष्ठा का आदर करते हुए सामाजिक उद्यमिता के प्रतिष्ठित संस्थान आईसेक्ट और वनमाली सृजन पीठ भोपाल ने हाल ही उन्हें शारदा चौबे स्मृति लोक सम्मान से विभूषित किया।

कबीर की वाणी का सुरीला संत

शेष विशेष

विनय उपाध्याय

देश-देश का वेद बुलाया, लाया जड़ी और बूटी
जड़ी-बूटी तेरे काम न आयी, जद राम की करनी टूटी
जरा हल्के गाड़ी हाँको, मेरे राम गाड़ी वाले...

मालवा की जनपदीय आस्थाओं में सदियों से कायम संत कबीर की यह सीख जब प्रहलाद सिंह टिपाणिया की मीठी-मुक्त स्वर लहरियों में तिरोहित होती है तो अध्यात्म के गहरे अर्थ मन और आत्मा को छूने लगते हैं। हाथ में इकतारा, सिर पर मालवी फेटा और अपने संगी साजिदों के साथ प्रहलाद की गाती-गुनगुनाती मुद्रा यूँ लगती है गोया कबीर और कंठ एक-दूसरे में समा गये हैं।

इसे कबीर के भक्ति पदों का प्रताप कहें, मालवी मिठास का असर या टिपाणिया की स्वर-साधना का सम्मोहन; अब यह जगजाहिर है कि गाँव की चौक-चौपाल और मेलों-ठेलों तक सिमटा यह लोक स्वर अब देश-देशान्तर की सैर करता एक विराट समाज की आत्मा में घुल रहा है। निश्चय ही इसका बड़ा श्रेय मध्यप्रदेश के उज्जैन जिले के लूनियाखेड़ी गांव में जन्में, पले-बढ़े टिपानिया को जाता है। कबीर के प्रति पारंपरिक निष्ठा और कबीर पंथ के प्रति व्यापक उदारता के लिए उनकी गहरी जूझ और निष्ठा का आदर करते हुए सामाजिक उद्यमिता के प्रतिष्ठित संस्थान आईसेक्ट और वनमाली सृजन पीठ भोपाल ने हाल ही उन्हें शारदा चौबे स्मृति लोक सम्मान से विभूषित किया। भारत सरकार ने दो बरस पहले उन्हें पद्मश्री की मानद उपाधि दी और उनके गृह प्रदेश ने शिखर सम्मान के लिए उनका चयन कर मालवा अंचल की वाचिक परंपरा का मान बढ़ाया। वे मध्यप्रदेश के संभवतः अकेले ऐसे लोक गायक हैं जिन्होंने मालवी संस्कृति की लोक उपमाओं तथा रूपकों में बंधे कबीर के पदों को लोक-संगीत के जरिये विश्व व्यापी बनाने का अभियान छेड़ा है। मालवा के ही एक गांव में पेशे से शिक्षक टिपाणिया के व्यक्तित्व में एक सहज ग्रामीण युवक की आत्मीयता, विनम्रता और अभिमान से विरत मनुष्यता की महक अनुभव की जा सकती है। उनमें कबीर के प्रति अनन्य निष्ठा है जिसके चलते उन्होंने सामाजिक समरसता के सिद्ध कवि को जन जागरण और जन आंदोलन का ज़रिया

सारे सम्मानों को वे अपने 'कबीर साहब' की स्मृति को समर्पित करते हुए कहते हैं- ''शताब्दियों पहले कबीर ने जिस निडरता से समाज के पाखंड पर प्रहार किया था, आज फिर हमें उस सच्चे हमदर्द संत की जरूरत है। मैं तो कबीर की वाणी का सारथी हूँ। हर सम्मान उन्हें ही समर्पित।''

बनाया है। अपने आधी सदी के जीवन में इस गायक ने भारत भर की अनेक यात्राएँ करते हुए अपनी कंठ माधुरी का झरना यत्र-तत्र प्रवाहित किया है। शब्द और संगीत के मेलजोल को उनकी वाणी ने आध्यात्मिक अर्थ की जिस प्रतिष्ठा तक पहुँचाया है, उसने संस्कृति और साहित्य के कई अध्येता-शोधकर्ताओं को उनकी ओर आकृष्ट किया है। इस संदर्भ में यह सूचना प्रहलाद की विशेष उपलब्धि से जुड़ी है कि अमेरिका स्थित स्टेन फोर्ड यूनिवर्सिटी की शोधार्थी सुश्री लिंडा हेस ने टिपानिया के कबीर गायन पर मुग्ध होकर न केवल भारत के लोक में कबीर पदों के गायन पर बरसों शोध किया बल्कि सन् २००५ में प्रहलाद और उनकी मंडली को अमेरिका भी आमंत्रित किया। ढाई महीने के इस सुरीले सफर में टिपानिया ने पैंतीस सभाओं में भाग लिया और भारतीय संत परंपरा के शिरोमणि कबीर के निर्गुण पदों का मालवी संस्करण सात समंदर पार के श्रोताओं को सौंपा। अमेरिका में कबीर यात्रा के दौरान गाये चुनिंदा पदों की छः वीडियो सी.डी. भी जारी हो चुकी है।

मालवा के इस अनोखे अप्रतिम गायक पर पहली निगाह म.प्र. आदिवासी लोक कला अकादेमी की पड़ी थी। करीब डेढ़ दशक पहले जबलपुर में आयोजित कबीर समारोह में टिपानिया को गायन के लिए न्योता गया। अपने इस पहले शहरी मंच पर उनकी गायिकी ने अनहद नाद की दिव्यता का जो प्रकाश बिखेरा, उसने उनके भावी मार्ग को प्रशस्त किया। वे लगातार सांस्कृतिक, साहित्यिक समारोहों में आमंत्रित किये जाने लगे। उनके हुनर का रंग बिरादरी में अधिक गहरा और गाढ़ा होकर उतरने लगा। उन्होंने लोक और नागर समाज में समान रूप से इस बात को सिद्ध किया कि संतों की वाणी को सिर्फ किताबी ज्ञान से नहीं समझा जा सकता, संगीत में भी इनकी कविता के रहस्य खोले जा सकते हैं। यही आत्मा से परमात्मा के योग का सच्चा, सुगम और स्वर सिक्त माध्यम है।

राग-रागिनी की विधिवत तालीम तो टिपानिया ने नहीं ली लेकिन नाथ सम्प्रदाय के भीमपुरी महाराज से उन्होंने जरूर दीक्षा ली और कबीर के पंथ को गहराई से समझा। टिपानिया का मानना है कि कबीर का राग तो बेराग है। वे सदा रीति-नियमों से अपनी राह अलग बनाकर चलते रहे। उन्होंने तो सदा अनहद से संवाद किया।

कबीर के पंथ को जन-जन से जोड़ने के लिए प्रहलाद ने अपने गांव लुनियाखेड़ी में सतगुरु कबीर स्मारक सेवा शोध संस्था की स्थापना की है। यहाँ हर साल वे एक बड़ा समारोह आयोजित करते हैं। सारे सम्मानों को वे अपने 'कबीर साहब' की स्मृति को समर्पित करते हुए कहते हैं- ''शताब्दियों पहले कबीर ने जिस निडरता से समाज के पाखंड पर प्रहार किया था, आज फिर हमें उस सच्चे हमदर्द संत की जरूरत है। मैं तो कबीर की 'वाणी का सारथी हूँ। हर सम्मान उन्हें ही समर्पित।''

गूँजे धरती के छंद

भोपाल में परंपरा की सुरीली खनक

आईसेक्ट टेलेंट हंट 'लोकतरंग'

वाचिक परंपरा से जुड़ी तीन पीढ़ियाँ एक मंच पर

एक ओर मिट्टी के सौंधें अहसासों से महकते लोक गीतों की गमकदार तानें तो दूसरी ओर आध्यात्मिक सत्संग का सुरीला पैगाम देती कबीर की वाणी...। आईसेक्ट का लोकतरंग ऐसी ही मधुमय धड़कनों को समेटता, संगीत प्रेमियों को मंत्र मुग्ध करता संपन्न हुआ। भोपाल स्थित मानव संग्रहालय के वीथि संकुल सभागार में 17 दिसंबर को आयोजित एक गरिमामयी समारोह में मालवा के जगत ख्यात लोक गायक प्रहलाद सिंह टिपाणिया को स्व. शारदा चौबे स्मृति लोक सम्मान से विभूषित किया गया, जबकि बुंदेलखंड, निमाड़, मालवा और बघेलखंड की पारंपरिक लोक गायन मंडलियों को नकद राशि और आईसेक्ट टेलेंट ट्रॉफी से पुरस्कृत किया गया। इस अवसर पर आईसेक्ट विश्वविद्यालय के कुलाधिपति और प्रसिद्ध कवि-कथाकार संतोष चौबे, लोक संस्कृतिकर्मी, वसंत निरगुणे, साहित्यकार मुकेश वर्मा, कला समीक्षक विनय उपाध्याय और संगीतकार संतोष कौशिक ने विशेष रूप से उपस्थित रहकर प्रतिभागी कलाकारों का मार्गदर्शन किया। आईसेक्ट स्टूडियो और वनमाली सृजनपीठ की साझेदारी में हुए इस अनूठे लोक समागम में मध्यप्रदेश की जनपदीय वाचिक परंपरा लोक गायिकी से जुड़ी तीन पीढ़ियों के कलाकारों ने शिरकत की।

छाया-छवियाँ

शुभारंभ : संतोष चौबे, वसंत निरगुणे, संतोष कौशिक, विनय उपाध्याय और निमाड़ की किशोर गायिका पूर्वा मांगरोले

लोकतरंग की निर्णायक जूरी और रसिक श्रोता : वसंत निरगुणे, मुकेश वर्मा, संतोष कौशिक, विनय उपाध्याय

बघेली लोक गायन

दो चरणों में सम्पन्न हुए समारोह की शुरूआत चयनित लोकगायन समूहों की प्रस्तुतियों से हुई। निमाड़ अंचल से सुषमा साध, सौम्या मांगरोले और बाबूलाल परिहार ने अपने दल के साथ शामिल हुए, वहीं मालवा का प्रतिनिधित्व कालूराम बामनिया, अंबाराम और दिनेश देवड़ा ने किया। बघेलखंड से रीति पांडे, शशि कुमार, कलावती मिश्रा, तथा बुंदेलखंड से कृषि विश्वकर्मा, मुन्ना यादव, विनोद सेन और रघुवर अहिरवार ने शिरकत की। चुने हुए सभी अंचल की मंडलियो को क्रमशः 31 हजार, 21 हजार, और 11 हजार रूपए की नकद राशि से पुरस्कृत किया गया। कार्यक्रम के दूसरे चरण में प्रहलादसिंह टिपाणिया ने मालवी लोक शैली में संत कबीर के निर्गुण भजनों की प्रस्तुति देकर परिवेश का भक्ति के रंग से सराबोर कर दिया।

इस मौके पर आईसेक्ट के महानिदेशक श्री संतोष चौबे ने कहा कि लोकतरंग उत्सव में जिन लोक कलाकारों ने शिरकत की है। उन्हें समय-समय पर क्षेत्रिय स्तर पर आयोजित कार्यक्रमों में शिरकत करने का अवसर प्रदान किया जाएगा। उन्होंने कहा कि इस लोकतरंग में शामिल सभी प्रतिभागी अब आईसेक्ट परिवार का हिस्सा है। श्री चौबे के अनुसार लोकतरंग के सभी कलाकार आईसेक्ट स्टूडियो की तकनीकी सेवाओं का लाभ अपनी कला के प्रचार-प्रसार में ले सकते हैं।

इससे पूर्व 16 दिसंबर को होशंगाबाद रोड स्थित वृंदावन गार्डन में प्रदेश से आए लोक कलाकारों ने अपनी प्रस्तुतियां दी। बोलियों में रचे लोक गीतों के साथ खनकती धुनें और लय-ताल को साधता देसी साज-बाज का मनछूता ताना-बाना वृंदावन गार्डन के मुक्ताकाश में अपनी पूरी परंपरा के साथ साकार हुआ। मध्यप्रदेश के निमाड़, मालवा, बुंदेलखंड और बघेलखंड के आंचलिक जीवन और संस्कृति से जुड़ी सदियों पुरानी सुरमई विरासत को समेटते लोकतरंग का यह रोमांच सुबह से शाम तक श्रोताओं को सम्मोहित करता रहा। संयोजन प्रशांत सोनी ने किया।

लोकतरंग का शुभारंभ आईसेक्ट के महानिदेशक संतोष चौबे ने दीप प्रज्वलित कर किया। लोकतरंग में जैसे ही खंडवा से आई बालिकाओं ने 'बठ्या-बठ्या कौशल्या री गोद, रामचंद्र दुल्लव बण्यां' गीत प्रस्तुत किया । रसिक श्रोताओं ने करतल ध्वनि से उनका उत्साहवर्धन किया। खंडवा से आई सौम्या मांगरोले एवं उनकी साथियों ने इस निमाड़ी गीत की प्रस्तुति दी। उन्होंने बताया कि इस गीत को विवाह के अवसर पर गाया जाता है। जिसमें दुल्हें के श्रृंगार का वर्णन किया गया है। बुंदेली मालवी, निमाड़ी

और बघेली लोकगीतों पर आधारित इस लोकतरंग का आगाज़ निमाड़ी और बघेली लोक गीतों से हुआ। खंडवा से ही आई सुषमा साध और उनके साथी कलाकारों ने निमाड़ी गीत 'लाया घुघरिया री गाड़ी, वीरा म्हारा लाया घुघरिया' गीत प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि श्रावण मास में इस गीत को रक्षा बंधन के लिए जब भाई अपनी बहन को लेने जाता है उस समय बहन की उत्सुकता एवं खुशी को प्रदर्शित करता है।

रीवा से आए रामसुंदर शर्मा एवं उनके दल ने बघेली लोकगीत 'कौनो गौना के आहे कहा जावै से दाद बटौरी। इस गीत में रामजी के वनवास के समय का वर्णन है। रीवा की ही कलावती मिश्रा एवं पार्टी ने बघेली लोकगीत 'सुघर बखरिया के ताले दरवजवा' सुहाग गीत की प्रस्तुति दी। जिसे श्रोताओं ने खूब सराहा। इसी तरह सागर के धर्मसिंह गौड़ ने बुंदेली तमुरा भजन 'कर्मों की गत न्यारी उधौ कैसे राजा राज करत है' की प्रस्तुति दी। उन्होंने बताया कि जाड़े के समय इस गीत को ग्रामीणजन अपना समय काटने के लिए चौपाल पर बैठ कर गाते है।इसी तरह मालवी लोक कलाकारों ने भी अपने गीतों की प्रस्तुति देकर श्रोताओं का मन मोह लिया। समारोह में लोक संस्कृतिकर्मी श्री वसंत निरगुणे, वरिष्ठ कथाकार, साहित्यकार श्री मुकेश वर्मा, कला समीक्षक श्री विनय उपाध्याय एवं संगीतकार श्री संतोष कौशिक निर्णायक के रूप में उपस्थित रहे।

गौरतलब है कि करीब छः माह से जारी आईसेक्ट टेलेंट हंट लोकतरंग में पूरी प्रक्रिया के दौरान मध्यप्रदेश के चारों अंचलों के लगभग 1 हजार से भी अधिक लोकगायकों ने अपनी लोककला की झंकार बिखेरी। आईसेक्ट द्वारा प्रदेश के अंचलों में जाकर एक हजार से भी अधिक लोक गायकों में से 36 समूहों का चयन किया गया। लोकतरंग में जहां बुंदेली लोकगायकों ने शौर्य और श्रृंगार आधारित लोकगीतों से रसिकजनों को आंदोलित किया वहीं बघेली लोक गायकों ने अपने अंचल की संस्कृति और परंपरा के गीतों से श्रोताओं की दाद बटोरी। मालवा से आए लोकगायकों ने मालवा की मीठी बोली बानगी का परिचय दिया, वहीं कबीर के निर्गुण भक्ति पदों से सुधिजनों की आत्मा को झंकृत किया। निमाड़ी गीतों में निमाड़ की जीवनदायिनी रेखा मां नर्मदा एवं संत सिंगाजी के गुणों का बखान हुआ। साथ ही निमाड़ी लोकजीवन में बहन का भाई एवं भाई का बहन के प्रति स्नेह का झरना प्रवाहित हुआ। कार्यक्रम का संचालन लोकतरंग के समन्वयक प्रशांत सोनी ने किया। तकनीकी सहयोग आशीष पोद्दार और सौरभ अग्रवाल ने किया। **-रपट: विक्रांत भट्ट**

शारदा चौबे स्मृति लोक सम्मान ग्रहण करते हुये मालवी लोक गायक प्रहलाद सिंह टिपाणिया। आईसेक्ट परिवार से संतोष चौबे, विनीता चौबे और सिद्धार्थ चतुर्वेदी

बघेली लोक गायन

मालवी लोक गायन

पणिक्कर का पुनरवलोकी प्रसंग

निरंतरता का 'रंग सोपान'

सुप्रतिष्ठित रंग निर्देशक कावालम नारायण पणिक्कर के पुनरवलोकी समारोह में यह बात उभरकर आई कि पणिक्कर का रंगकर्म सिर्फ अनूठा नहीं है, बल्कि वह भारतीय सभ्यता की निरंतरता का अकाट्य प्रकटन है।

तीन फरवरी से नौ फरवरी तक भोपाल के भारत भवन में देश के सुप्रतिष्ठित रंग निर्देशक कावालम नारायण पणिक्कर का पुनरवलोकी समारोह 'रंग सोपान-2' आयोजित किया गया। पणिक्कर निर्देशित सात नाटकों की प्रस्तुति हुई। छह नाटक सोपानम् तिरुवनंतपुरम् की प्रस्तुतियाँ थीं और एक राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की रंगमंडली की। इस दौरान पणिक्कर के रंगकर्म पर आधारित फ्रांसेस कोडनकडत के चित्रों की प्रदर्शनी लगी। पणिक्कर से सुदीर्घ संवाद और उनके दो नाटकों की पुस्तक 'सौंदर्य का रंगकर्म' का विमोचन भी इस अवसर पर हुआ।

पणिक्कर उन विरले रंगकर्मियों में हैं जिन्होंने खुद कई नाटक लिखे हैं और जिन्होंने कम-से-कम तीन भाषाओं में अद्वितीय नाटक किए हैं। वे मलयालम, संस्कृत और हिन्दी उत्कृष्ट नाटक करते आ रहे हैं। इस समारोह में उनके दो मलयाली नाटक-कल्लुरूट्टी और भगवदज्जुकीयम्, दो संस्कृत नाटक- प्रतिमा और उरूभंगम् और तीन हिन्दी नाटक- संगमणियम्, छायाशाकुंतलम् और उत्तररामचरितम् प्रदर्शित हुए। ये सातों नाटक सात अनूठे मार्गों पर चलकर संभव हुए हैं।

पहला नाटक 'संगमणियम्' था। यह नाटक हिन्दी में किया गया। इसकी पृष्ठभूमि विशिष्ट है। यह नाटक कालिदास के तीनों नाटकों की तीन नायिकाओं और नायकों को लेकर पणिक्कर और उदयन वाजपेयी ने लिखा। नाटक में कालिदास की नायिकाएं और नायक अवश्य हैं पर इसकी आख्यान-भूमि लेखकों की अपनी कल्पना है। उन्होंने इन चरित्रों को एक नई आख्यान-भूमि पर रखकर उन्हें समझनेकी और सृजित करने की चेष्टा की है।

इस समारोह का अगला नाटक था, 'प्रतिमा'। यह नाटक महाकवि भास के प्रतिमा नाटकम् के पणिक्कर द्वारा तैयार किए पाठ पर आधारित था। इस प्रदर्शन में कावालम विशुद्ध नाट्यशास्त्रीय ढंग से कुछ ऐसी छवियों तक जा पहुंचे, जो वेदों में अंकित है। मैं विषकर राजा दशरथ की मृत्यु को याद कर रहा हूँ। जब उनकी मृत्यु करीब आती है उन्हें अपने पुरुखे बारी-बारी से आते दिखाई देते हैं मानो वे उन्हें लेने आए हों। संयोग से ऋग्वेद में भी कहा गया है कि मृत्यु के अवसर पर मरते हुए व्यक्ति को लेने उसके गुरुजन और पुरुखे आते हैं। यह नाटक अपने रंग व्यवहार और दार्शनिक दृष्टि में अद्वितीय था। पणिक्कर ने भास का ही एक अन्य नाटक 'उरुभंगम्' संस्कृत में किया। यह नाटक गिरिशन् के अद्भुत अभिनय के लिए हमेशा याद रखा जाएगा। इसमें मरते हुए दुर्योधन के अन्यान्य भावों को उन्होंने बड़ी ही सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ प्रकट किया। दुर्योधन के तमाम संचारी भाव उनके चेहरे और अंगों पर अपनी स्पष्ट झलक दिखलाकर लोप होते हैं। समारोह में पणिक्कर ने मलयालम भाषा में दो नाटक किए। एक नाटक केरल के आदिवासी समुदाय माविलोन की लोककथा पर आधारित है। इसमें कल्लुरूट्टी नामक साहसी बालिका का थय्यम् पूजा जाता है। थय्यम्, देवम् का मलयाली रूप है और यह उन मृतकों का बनता है जिन्होंने केरल के लोक जीवन पर अपनी छाप छोड़ी हो। इसके लिए यह जरूरी नहीं कि वह सद्गुण संपन्न रहा हो।

थय्यम् की कल्पना के पीछे यह विश्वास है कि हर व्यक्ति में एक ऐसा आत्मन् होता ही है जो उसके गुणों और अवगुणों से अलग रहकर उसके जीवन को अनुभव करता है, इसी आत्मन् को मृत्यु के बाद थय्यम् या देवम् का दर्जा मिल जाता है। पणिक्कर ने दूसरा मलयाली नाटक संस्कृत के प्रसिद्ध 'भगवदज्जुकीयम्' के मलयाली अनुवाद के आधार पर किया। यह आश्चर्य की बात है कि इन नाटकों के मलयालम् भाषा में होने के बाद भी भारत भवन का दर्शकों से भरा अंतरंग इनका सहज आनंद लेता रहा। यह इसलिए क्योंकि पणिक्कर की रंगभाषा इतनी समृद्ध है कि इसमें अगर आप वाचिक को पूरी तरह न भी समझ पा रहे हों, तो भी आप उसमें डूब सकते हैं।

समारोह के अंतिम दो दिनों में पणिक्कर की रंग दृष्टि और दर्शन और उनके नाटकों की संगीत और नृत्य संयोजन पर गंभीर विचार-विमर्श हुआ। इसमें कवि अशोक वाजपेयी, समाज वैज्ञानिक सुरेश शर्मा, फिल्मकार सिद्धार्थ सिन्हा, कवि-कथाकार संगीता गुंदेचा, संगीत विदुषी रत्ना पणिक्कर, मोहिनीअट्टम् नर्तकी जयाप्रभा मेनन और लोक कलाओं के विशेषज्ञ जयराजन ने भाग लिया। इन संवादों में यह बात उभरकर आई कि पणिक्कर का रंगकर्म सिर्फ अनूठा नहीं है, बल्कि वह भारतीय सभ्यता की निरंतरता का अकाट्य प्रकटन है।

इस समारोह के अंतिम दो नाटक हिन्दी में थे। पहला राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की रंगमंडली ने किया। यह नाटक 'छायाशाकुंलम्' था। इसमें भी पणिक्कर ने प्रकृति और पुरुष के संबंध की जटिलता और माधुर्य को पूरी तन्मयता से प्रस्तुत किया। समारोह का अंतिम नाटक भावभूतिकृत पणिक्कर और उदयन वाजपेयी पुनर्रचित 'उत्तररामचरितम्' था। इसमें पणिक्कर ने राम के आत्म संघर्ष और सीता के वियोग की पीड़ा की मार्मिक प्रस्तुति की है। इस नाटक में भ्वभूति ने रामकथा के कुछ अनुत्तरित प्रश्नों के सृजनात्मक उत्तर देने की कोशिश की है। समारोह के हर दिन भारत भवन का अंतरंग दर्शकों से खचाखच भरा रहता था। नाटकों के शुरू होने के पहले चार दिनों तक थय्यम् का और फिर सोपानम् संगीत का प्रदर्शन हुआ।

-उदयन वाजपेयी

सुरुचि के रंग भरता है नेपथ्य

रंगमंच पर खेले जा रहे नाटक की सफलता का श्रेय अक्सर मंच के अभिनेताओं को दिया जाता है, लेकिन दुर्भाग्य से किसी भी प्रस्तुति में सुरुचि के रंग भरने वाले मंच परे के सूत्रधारों को प्रायः भुला दिया जाता है। किसी भी मंचीय प्रस्तुति के लिए नेपथ्य एक अनिवार्य निर्भरता है। ये वो रास्ता है जहाँ से गुजरकर कल्पनायें हकीकत की जमीन पर उतरती हैं, नेपथ्य नाटक में सह कलाकार की भूमिका निभाता है।

सांस्कृतिक संस्था और पत्रिका 'कला समय' द्वारा आयोजित संवाद-प्रसंग में ये उदगार सुप्रसिद्ध रंगकर्मी अनूप जोशी बंटी ने व्यक्त किये। हिन्दी भवन के महादेवी वर्मा सभागार में 'नाटक का नेपथ्य' विषय पर एकाग्र इस अनूठे विमर्श में श्री जोशी ने अपनी तीन दशकों की रंग-यात्रा के अनुभव साझा करते हुए बेक स्टेज और थियेटर के तालमेल से जुड़ी महत्वपूर्ण जानकारियां दीं। इस अवसर पर विनय उपाध्याय द्वारा सम्पादित बहुचर्चित पत्रिका 'कला समय' के नवीन अंक का लोकार्पण प्रख्यात कला चिंतक और साहित्यकार डॉ. सेवाराम त्रिपाठी ने किया। संवाद में राजधानी के रंगकर्मियों और आलोचकों ने भी हिस्सा लिया। अपने वक्तव्य की शुरुआत करते हुए अनूप जोशी ने प्राचीन रंगमंच और उसकी परंपरा से जुड़े नेपथ्य कर्म का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि किसी भी नाटक का प्राण उसके नेपथ्य से जुड़ा होता है यह निर्भरता ही प्रस्तुति को अपेक्षित प्रभाव देने के लिए प्रोत्साहित करती है। हमारे समय के अनेक प्रसिद्ध और कालजयी नाटक उनके मंच परे की सजग तैयारी के कारण आज भी प्रासंगिक हैं।

भारत भवन रंगमंडल में पंद्रह बरस तक मूर्धन्य नाट्य निर्देशकों के साथ मंच और मंच परे अपनी साझेदारी बनाने वाले बंटी जोशी ने बताया कि बेक स्टेज की अपनी ग्रामर होती है, जिसे बहुत बारीकी से समझना जरूरी है। यह काम जितना तकनीकी है उतना ही वैचारिक और भाविक भी है। उन्होंने कहा कि अक्सर बेक स्टेज के काम को निकृष्ट माना जाता है। उसके प्रशिक्षण को लेकर नाट्य स्कूलों से लेकर नाट्यकर्मियों तक अपेक्षित गम्भीरता की कमी है। रंगमंच के इस महत्वपूर्ण और निर्णायक आयाम को लेकर चिंतक सेवाराम त्रिपाठी ने कहा कि नेपथ्य कर्म चुनौती का उपक्रम है। मंच की जो कार्यवाही दर्शक को लुभाती है उसका नियामक कोई अदृश्य किरदार होता है। जोशी ने उनके द्वारा अभिनीत, निर्देशित नाटकों की मिसाल पेश करते हुये उन चुनौतियों और बारीकियों की ओर इशारा किया जिनकी वजह से नाटक रचनात्मक दृष्टि से सार्थक और सुरुचिपूर्ण बन पाये।

आरम्भ में कला समय परिवार की ओर से भवरलाल श्रीवास, प्रेमशंकर शुक्ल आदि ने वक्ताओं का स्वागत किया। संचालन विनय उपाध्याय ने किया।

कला साधकों का सम्मान

करवट कला परिषद् द्वारा प्रतिष्ठित आयोजन कला मनीषियों का सम्मान समारोह दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय में आयोजित किया गया। अध्यक्षता देवेन्द्र दीपक ने की तथा विशिष्ट अतिथि मूलाराम जोशी थे। कार्यक्रम में कला साधना सम्मान से सम्मानित हुए- हरिकृष्ण तैलंग, पापियादास गुप्ता, श्याम द्विवेदी, सुरेश चौधरी (भोपाल), अभिव्यक्ति सम्मान - चित्रा शर्मा, भाषा भारती सम्मान - के. सुरेश, साक्षर भारती सम्मान - तुहिन देब, भाषा रत्न सम्मान - बाल्को (कोरबा बिलासपुर), संवाद भारती सम्मान - रंग संवाद पत्रिका, संतोष चौबे, विनय उपाध्याय, रत्न भारती सम्मान से सम्मानित, भारतीय मानव- 'बिछुआ' व्यंग्य कविता, शरद तैलंग - 'गुस्से में है भैंस' गद्य व्यंग्य आशीष कंधवे - 'समय की समाधि' कविता विपिन कुमार शर्मा - 'अमलदास' कविता, साधना बलवटे- 'व्यंग्य - अब तक' पाण्डुलिपि विद्रोही सम्मान (विद्रोही सृजनपीठ) - बटुक चतुर्वेदी (भोपाल)।

श्याम बिहारी सक्सेना की पलाश की चांव में (कहानी), प्रणय प्रतीति (कविता), महेश गौड़ की काव्य कृति - मन के गीत, अलका रिसबुड की नाट्यकृति - माँ की पीड़ा, बलराम श्रीवास्तव की काव्य कृति - अम्बर के फूल का लोकार्पण किया गया। संचालन राजुरकर राज ने किया स्वागत वक्तव्य संस्था अध्यक्ष घनश्याम मैथिल ने दिया तथा सचिव बाबूराव गुजरे ने अतिथियों का स्वागत किया।

आकाशवाणी भोपाल पुरस्कृत

आकाशवाणी वार्षिक पुरस्कार के अंतर्गत तकनीकी उत्कृष्टता-२०१२ के लिए पश्चिम क्षेत्र के आकाशवाणी केन्द्रों में से आकाशवाणी भोपाल को 'उत्तम अनुरक्षित केन्द्र' (बेस्ट मेन्टेन्ड स्टेशन) का आकाशवाणी वार्षिक पुरस्कार इस बार फिर प्राप्त हुआ है। भोपाल केन्द्र के उप निदेशक (अभियांत्रिकी) व कार्यालय प्रमुख श्री सुदर्शन अंसोलिया ने नई दिल्ली में आयोजित एक समारोह में यह पुरस्कार ग्रहण किया। इससे पूर्व भी इस केन्द्र को श्रेष्ठ निर्माण और प्रसारण के अनेक पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। इस उपलब्धि पर केन्द्र निदेशक ने कर्मचारियों-कलाकारों के योगदान की प्रशंसा करते हुये बधाई प्रेषित की है।

खंडवा में पाठ प्रसंग

...हँस के निकल जाती है धूप

''हर कूचे बाजारों से हँस के निकल जाती है धूप/कितने ही सायों की जवानी नगल जाती है धूप''। मशहूर शायर डॉ. रजा खण्डवी का यह कलाम नए साल की आमद के मौके पर वनमाली सृजन पीठ के पाठ प्रसंग में अपनी खुशबू बिखेरता रहा।

कविता के मुख्तलिफ रंगों और अहसासों से महकते पैगाम लिए करीब एक दर्जन कवि-शायरों ने खंडवा के आनन्द नगर स्थित वनमाली अध्ययन केन्द्र में शिरकत की। इस मौके पर सृजन पीठ के संयोजक कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने बताया कि खण्डवा की गौरवशाली साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा की पुनर्स्थापना और रचनात्मक सौहार्द के लिए हर सम्भव प्रयास किये जायेंगे। लगभग दो घण्टे तक चली इस गोष्ठी में डॉ. श्रीराम परिहार, गोविन्द शर्मा, अरुण सातले, आलोक सेठी, प्रतापराव कदम, गोविन्द गुंजन, सूफियान काजी, हेमन्त उपाध्याय, शैलेन्द्र शरण, गोविन्द गीते, विनय उपाध्याय, राजश्री शर्मा आदि ने मानवीय मूल्यों, रिश्तों, स्मृतियों और विसंगतियों को उजागर करती रचनाओं का पाठ किया आरम्भ में समाजसेवी गेंदालाल राठौर के सौजन्य से प्राप्त वनमालीजी के चित्र का अनावरण डॉ. सफदर रजा खण्डवी ने किया। हाल ही श्रीलंका और लंदन की सांस्कृतिक यात्रा कर शहर लौटे प्रख्यात ललित निबन्धकार श्रीराम परिहार का श्रीकृष्ण उपाध्याय ने शॉल-श्रीफल भेंटकर अभिनन्दन किया। वनमाली संस्थान की ओर से शरद जैन, जगजीत शर्मा, अजय शर्मा, लुकमान मसूद, प्रेम प्रकाश आचार्य, शहजाद कुरेशी आदि ने आमंत्रित कवियों का स्वागत किया। कार्यक्रम का संचालन व्यंग्यकार कैलाश मंडलेकर ने किया।

राजेश गाबा को 'लाड़ली मीडिया' अवार्ड

फीमेल इश्यू, ह्यूमन इंट्रेस्ट स्टोरी और जेंडर सेंस्टेविटी पर बेस्ट रिपोर्टिंग के लिए दैनिक भास्कर भोपाल के रिपोर्टर राजेश गाबा (प्रिंस) को 'लाडली मीडिया एंड एडवरटाइजिंग' अवार्ड से सम्मानित किया गया। उन्हें यह अवार्ड चिनमय मिशन ऑडिटोरियम नई दिल्ली में एक भव्य समारोह में योजना आयोग की सचिव सिंधुश्री खुल्लर, यूनाइटेड नेशन पापुलेशन फंड की कंट्री रीप्रेजेंटेटिव फेट्रिका मैजर, लोकसभा सचिव के सीईओ राजीव मिश्रा और सेंट्रल फॉर सोशल रिसर्च की डायरेक्टर रंजना कुमारी व पापुलेशन फस्ट की डायरेक्टर डॉ. ए.एल. शारदा ने दिया। यह अवार्ड पॉपुलेशन फस्ट आर्गेनाइजेशन जेंडर सेंस्टेविटी पर बेस्ट रिपोर्टिंग के लिए देशभर से चुने गए जर्नलिस्ट को देता है। इससे पूर्व भी गाबा को स्थानीय संस्थाओं ने उनकी उत्साही पहलों के लिये सम्मानित किया है।

म.प्र. लेखक संघ का सम्मान अलंकरण

मध्यप्रदेश लेखक संघ का 20वाँ साहित्यकार सम्मान समारोह हिन्दी भवन भोपाल में भव्य गरिमा के साथ विजयदत्त श्रीदव, संस्थापक माधवराव सप्रे स्मृति समाचार पत्र संग्रहालय के मुख्य आतिथ्य में सम्पन्न हुआ। सारस्वत अतिथि सुखदेव प्रसाद दुबे, अध्यक्ष मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति थे। अध्यक्षता वरिष्ठ साहित्यकार बटुक चतुर्वेदी ने की। लेखक संघ के इस सालाना आयोजन में प्रदेश की तीन पीढ़ियों के चौदह साहित्यकारों को विभिन्न साहित्यिक सम्मानों से अलंकृत किया गया।

अक्षर आदित्य सम्मान इन्दौर के प्रख्यात कथाकार व व्यंग्यकार सूर्यकांत नागर, सारस्वत सम्मान भोपाल के वरिष्ठ रचनाकार व छायाकार नवल जायसवाल, पुष्कर जोशी स्मृति साहित्यकार सम्मान भोपाल की प्रसिद्ध कथाकार उर्मिला शिरीष देवकीनन्दन माहेश्वरी स्मृति युवा साहित्यकार सम्मान टीकमगढ़ के युवा रचनाकार भारत विजय बगेरिया, काशीबाई मेहता स्मृति लेखिका सम्मान ग्वालियर की सुपरिचित कथाकार सुनीता पाठक, कस्तूरी देवी चतुर्वेदी स्मृति लोकभाषा सम्मान सागर के वरिष्ठ बुन्देली रचनाकार ओमप्रकाश चौबे, डॉ. संतोष तिवारी समीक्षा सम्मान उज्जैन के वरिष्ठ समीक्षक बी.एल. आच्छा, हरिओम शरण चौबे स्मृति गीतकार सम्मान मुरैना के सुपरिचित गीतकार सूर्य सक्सेना, हरीश निगम स्मृति मालवी भाषा सम्मान इन्दौर की वरिष्ठ मालवी कवयित्री पुखराज पाण्डे, अमित रमेश शर्मा स्मृति हास्य-व्यंग्य मंच कवि सम्मान नागदा के प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य मंचीय कवि जगन्नाथ विश्व, डॉ. कमला चौबे स्मृति लेखिका सम्मान भोपाल की सुपरिचित लेखिका ऊषा सक्सेना, मालती बसंत नव लेखिका सम्मान ग्वालियर की नवोदित कवयित्री आद्या दीक्षित, पं. ब्रजवल्लभ आचार्य स्मृति संस्कृतज्ञ सम्मान भोपाल के सुपरिचित संस्कृतज्ञ निलिम्प त्रिपाठी, डॉ. वल्लभदास शाह अनुवाद सम्मान इन्दौर के वरिष्ठ अनुवादक (समग्र कालिदास का हिन्दी दोहावली में अनुवाद करने वाले) ओम जोशी को दिया गया। कैलाशचन्द्र जायसवाल के कुशल संचालन में सम्पन्न हुए इस समारोह में प्रशस्ति पत्रों का वाचन प्रीति प्रवीण खरे ने किया। आभार प्रदर्शन प्रभुदयाल मिश्र ने किया।

आत्मीयता में रचा-बसा अमृत प्रसंग

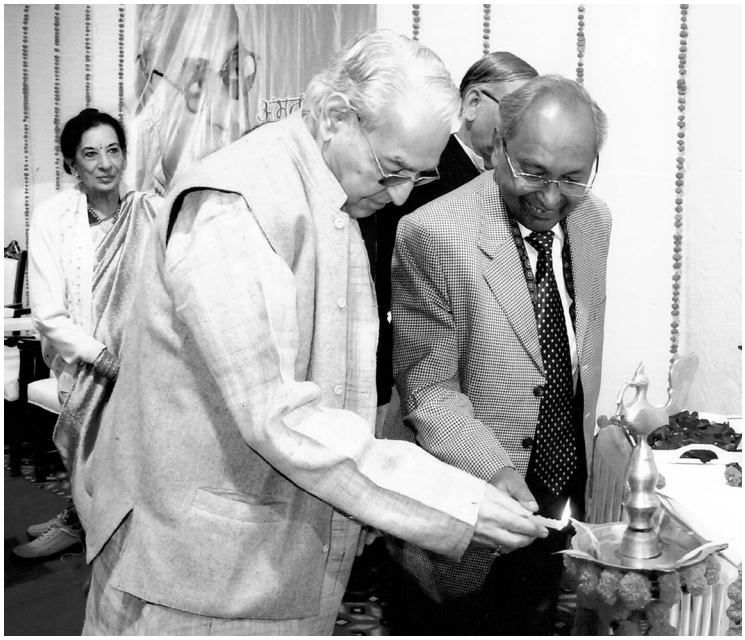

प्रभाकर श्रोत्रिय पर एकाग्र आयोजन

भोपाल में 19 दिसंबर को आलोचक-विचारक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय अमृत प्रसंग का आयोजन साहित्य संस्था स्पंदन, संस्कृति संचालनालय, हिन्दी भवन, वनमाली सृजनपीठ तथा पहले-पहल ने संयुक्त रूप से किया।

साहित्य संस्था प्रथम सत्र में 'हिन्दी आलोचना आज' विषय पर प्रख्यात कथाकार गिरिराज किशोर की अध्यक्षता में डॉ. श्यामसुंदर दुबे, रमेश दवे, लीलाधर मण्डलोई, शशांक, सूर्यकांत नागर तथा प्रेमशंकर रघुवंशी ने वक्तव्य दिये वहीं डॉ. विजय बहादुर सिंह ने आधार वक्तव्य देते हुए आलोचना की स्थिति पर वक्तव्य देते हुए कहा कि आज आलोचना का कोई शास्त्र नजर नहीं आता। जिन्हें आलोचना का ज्ञान नहीं वे ही आलोचक की मुद्रा में नजर आते हैं। पूर्व में आलोचना का शास्त्र था जो पढ़ाया जाता था। वरिष्ठ आलोचक और कथाकार रमेश दवे ने कहा कि ऐसे भी आलोचक हैं जो अपनी जमीन से कटे हुए हैं। ज्ञान की कोई गुलाम मानसिकता नहीं होती है। ज्ञान कहीं से भी मिले उसे सहज रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। कथाकार शशांक ने कहा कि आजकल हिन्दी में अस्सी प्रतिशत आलोचना किसी न किसी दबाव में लिखी जा रही है। कुछ आलोचकों की आलोचकीय भाषा हिंसक विद्वता के बोझ से दब सी गयी है। डॉ. श्रोत्रिय की आलोचना में जो भाषा है, तत्मयता है वह साहित्य में आना बहुत आवश्यक है। उनकी जैसी रचनात्मक भाषा आज साहित्य को चाहिए। आलोचना ऐसी होनी चाहिए जो लेखक को आगे ले जाने में प्रोत्साहित करे। कवि और गद्य लेखक लीलाधर मण्डलोई ने कहा कि आलोचकों को ऐसा प्रयास करना होगा कि उनकी आलोचना भी रचना बन सके यह तभी संभव है जब रचना में क्लासिक को स्थान मिलेगा। भाषाशास्त्री डॉ. श्यामसुंदर दुबे ने कहा कि अच्छी और रचनात्मक आलोचना के लिए आलोचक और रचनाकार के बीच सतत आवाजाही बनी रहना चाहिए। हमारे समीक्षकों में खुलापन होना चाहिए। प्रेमशंकर रघुवंशी ने कहा कि डॉ. श्रोत्रिय ने आलोचना धर्म को बहुत गंभीरता और संवेदनशीलता के साथ नभिाया है। उनकी कोशिश रही है कि आलोचना रचनाकार की बजाय रचना पर केन्द्रित हो। सत्र की अध्यक्षता करते हुए कथाकार गिरिराज किशोर ने कहा कि साहित्य ने अतीत में सामाजिक आलोचक का महत्वपूर्ण कार्य किया है। वेदव्यास ने कर्ण और तुलसी ने शबरी पात्र के माध्यम से तात्कालिक समाज पर गहरी चोट की थी। लेकिन खेद की बात है कि आलोचना की उस महान परम्परा को आज भुला दिया गया है। किसी को श्रेष्ठ और किसी को कबाड़ बना देना आलोचना का धर्म नहीं है। इस सत्र का संचालन कथाकार मुकेश वर्मा ने किया।

दूसरा सत्र डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय के 'अमृत प्रसंग' का था जिसमें भोपाल की साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं तथा साहित्यकारों ने डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय का सम्मान किया। इस सत्र के मुख्य अतिथि कथाकार गिरिराज किशोर, अध्यक्ष डॉ. श्यामसुंदर दुबे, विशिष्ट अतिथि संतोष चौबे, मनोज श्रीवास्तव तथा रमेश दवे थे। सम्मान के पश्चात् डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपने जीवन तथा संपादन के रूप में अपनी भूमिका के बारे में अनुभव सुनाये तथा अपनी प्रतिबद्धताओं के बारे में बताया। संतोष चौबे ने बेहद रागात्मक ढंग से अपने संस्मरण सुनाते हुए कहा कि डॉ. श्रोत्रिय एक अध्यापक के रूप में उनकी स्मृतियों में अंतरधारा की तरह बहते हैं। उनका आलोक उन्हें उद्भाषित करता है। रमेश दवे ने श्रोत्रिय के लेखन के

अमृत प्रसंग में लीलाधर मंडलोई, श्यामसुंदर दुबे, विजय बहादुर सिंह, गिरिराज किशोर, रमेश दवे, शशांक, प्रेमशंकर रघुवंशी और सूर्यकांत नागर

शुरुआती दिनों के बारे में बताते हुए उनके संघर्ष, उनके साथ अपनी मित्रता के बारे में भावनात्मक संस्मरण सुनाये। वहीं गिरिराज किशोर ने प्रभाकर श्रोत्रिय के रचनात्मक जीवन की उपलब्धियों के बारे में खासकर तटस्थ संपादक के रूप में उनकी प्रशंसा की। कार्यक्रम की संयोजक उर्मिला शिरीष ने अमृत प्रसंग की आवश्यकता और सार्थकता के बारे में बताया। कार्यक्रम का संचालन कला संपादक विनय उपाध्याय ने किया। आभार मुकेश वर्मा ने व्यक्त किया। डॉ. श्रोत्रिय के अमृत प्रसंग में आयोजक संस्थाओं हिन्दी भवन, स्पंदन संस्था, पहले-पहल तथा संस्कृति संचालनालय के अलावा म.प्र. साहित्य सम्मेलन सहित प्रमुख साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं और साहित्यकारों द्वारा सम्मान किया गया।

हमें अपनी विरासत युवा पीढ़ी को सौंपना चाहिए

ललित कलाओं को समर्पित स्पंदन संस्था की ओर से स्थापित स्पंदन सम्मान समारोह का आयोजन 20 दिसंबर को भारत भवन भोपाल में अग्रणी आलोचक संपादक डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय के मुख्य आतिथ्य में सम्पन्न हुआ। विशिष्ट अतिथि कथाकार मंजूर एहतेशाम, संतोष चौबे तथा रमेश दवे थे।

सम्मान समिति के समन्वयक प्रो. रमेश दवे ने स्पंदन के सम्मानों की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला। कथाकार मुकेश वर्मा ने सम्मानित साहित्यकारों तथा कथाकारों की उपलब्धियों पर आलोख का वाचन किया। कथाकार संतोष चौबे ने कहा कि व्यक्तिगत प्रयासों से एक संस्था ने बहुत कम समय में अपनी प्रतिबद्धताओं को स्थापित कर लिया है। कथाकार मंजूर एहतेशाम ने भी संस्था के प्रयासों की प्रशंसा की। प्रभाकर श्रोत्रिय ने कहा कि आज इस सभागार में जिन युवा रचनाकारों को सम्मानित किया गया है वह सराहनीय है। हमें अपनी युवापीढ़ी को अपनी विरासत सौंपनी चाहिए। कोई संस्था अगर साहित्य के साथ-साथ कलाओं के लिए काम करती है तो वह प्रशंसनीय है आज ऐसी ही संस्थाओं की जरूरत है जो तमाम गुटबंदियों विचारधाराओं तथा मत-मतांतरों से ऊपर उठकर साहित्य और कलाओं के लिए काम करें। इसके पहले ओमा शर्मा को स्पंदन कृति सम्मान (कथासंग्रह कारोबार के लिए) नीलेश रघुवंशी को स्पंदन कृति सम्मान (कविता संग्रह 'अंतिम पंक्ति में' के लिए) बिन्दु जुनेजा को ललित कला सम्मान (ओडिसी नृत्य के लिए) संज्ञा उपाध्याय को साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान (कथन पत्रिका के लिए) तथा वैभव सिंह को स्पंदन आलोचना सम्मान (आलोचना कर्म के लिए) से सम्मानित किया गया। सम्मान स्वरूप ग्यारह हजार रुपये की राशि, शॉल तथा स्मृति चिन्ह प्रदान किया गया। संस्था की संयोजक उर्मिला शिरीष ने संस्था की गतिविधियों के बारे में जानकारी दी। विनय उपाध्याय ने कार्यक्रम का संचालन किया तथा डॉ. आनंद सिंह ने आभार व्यक्त किया। इस अवसर पर शहर के साहित्यकार संस्कृति कर्मी, नाट्यकर्मी तथा ललित कलाओं से संबद्ध कलाकार उपस्थित थे।

स्पंदन सम्मान समारोह

दूसरे दिन 21 दिसम्बर को सम्मानित रचनाकारों का रचना पाठ आयोजित किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. श्रोत्रिय ने की और विशिष्ट अतिथि कथाकार शशांक थे। इस अवसर पर ओमा शर्मा ने कहानी का पाठ किया। नीलेश रघुवंशी ने चुनिन्दा कविताओं का पाठ किया, संज्ञा उपाध्याय ने 'यथार्थवाद, जन आंदोलन और आज की हिन्दी कहानी' आलेख पढ़ा और वैभव सिंह ने 'आलोचना सवाल और चुनौतियां विषय पर वक्तव्य दिया। श्रोत्रीयजी ने कहा कि रचनाकार को भाषा के नीचे बहती भाषा की तलाश करनी होती है। कविता के भीतर अर्थ की तलाश करनी होती है। कथ्य उसके भीतर रहता है। युवा लेखक गहराई में उतर रहे हैं। उनमें व्याकुलता है, नये की तलाश का भाव है। कार्यक्रम का संचालन उर्मिला शिरीष ने किया। आभार कथाकार मुकेश वर्मा ने व्यक्त किया।

दुबे को सुब्रहमण्य भारती

लब्धप्रतिष्ठित ललित निबंधकार डॉ. श्यामसुंदर दुबे को हिन्दी साहित्य का महत्वपूर्ण 'सुब्रह्मण्य भारती पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है। यह पुरस्कार अखिल भारतीय स्तर पर 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, नई दिल्ली' द्वारा प्रवर्तित है। इस पुरस्कार में 1,00,000 (एक लाख रुपये) की राशि प्रदान की जाती है। अब तक डॉ. दुबे को उनके रचनात्मक अवदान पर अनेक राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हो चुके हैं। नवगीतकार, लोकविद् कथाकार एवं समीक्षक के रूप में हिन्दी साहित्य में अपना स्थान निर्मित कर चुके हैं। अब तक उनकी तीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

राष्ट्रकवि गुप्त का स्मरण

सवारी डिब्बा पुनर्निर्माण कारखाना, पश्चिम मध्य रेलवे भोपाल के राजभाषा अनुभाग द्वारा 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त' की 49वीं पुण्य तिथि के अवसर पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केंद्रित व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया। मुख्य अतिथि के रूप में गुप्त जी के जन्म स्थान चिरगांव (झांसी) निवासी देवेन्द्र कुमार जैन, सेवानिवृत्त न्यायाधीश एवं साहित्यकार व विशिष्ठ अतिथि के रूप में डॉ. माया दुबे, वरिष्ठ साहित्यकार तथा विनय उपाध्याय संपादक रंग संवाद/कला समय उपस्थित थे। अध्यक्षता रश्मि दिवाकर, विभाग की उप मुख्य यांत्रिक इंजी., भोपाल ने की।

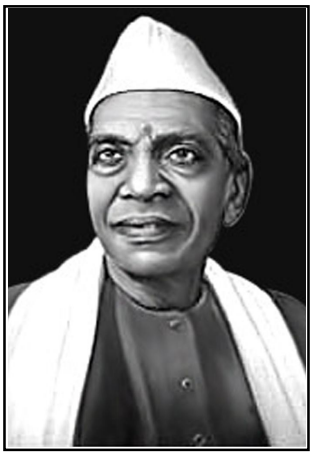

सर्वप्रथम कारखाने में कार्यरत कवि सतीश चंद्र श्रीवास्तव ने ''हे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त बारंबार तुम्हें नमन्'' कविता का पाठ किया। पंचवटी, यशोधरा, साकेत, भारत भारती जैसी अनेक कालजयी रचनाओं का उल्लेख करते हुए, गुप्तजी को समाज के उपेक्षित वर्ग को मुख्य धारा से जोड़ने वाला कर्णधार बताया।

विनय उपाध्याय ने कहा कि हमें ऐसे प्रयास करने चाहिए कि नई पीढ़ी भारतीय साहित्य के स्वर्णिम इतिहास से भली-भाँति परिचित हो सके। देवेन्द्र जैन ने राष्ट्रकवि से जुड़े उनके आत्मीय संस्मरण सुनाते हुए उपस्थितजनों को भाव विभोर कर दिया। उन्होंने गुप्त जी के नधिन तथा उनकी बरसी पर संपन्न हुए ऐतिहासिक कार्यक्रमों को भी हृदय से याद करते हुए, इस दिन को अपने जीवन का एक महत्वपूर्ण दिन बताया। संचालन घनश्याम मैथिल अमृत ने किया।

कौतुक को देव-भारती

हिन्दी परिवार इंदौर के उपाध्यक्ष साहित्य संगम के अध्यक्ष वरिष्ठ साहित्यकार सदाशिव कौतुक को उनके व्यंग्य संग्रह ''भगवान दिल्ली में'' को देव-भारती पुरस्कार के लिये चयन किया गया। कौतुक को यह पुरस्कार पुलिस यातायात प्रशिक्षण एवं शोध संस्थान (जहांगीराबाद) भोपाल में पुलिस महानिदेशक (म.प्र.) नंदन दुबे, म.प्र. मानव अधिकार परिषद् के पूर्व अध्यक्ष न्यायमूर्ति आर.डी. शुक्ल, वरिष्ठ साहित्यकार प्रभुदयाल मिश्र तथा पत्रिका के संपादक डॉ. देवप्रकाश खन्ना द्वारा शहर के साहित्यकारों की गणमान्य उपस्थिति में प्रतीक चिन्ह-सम्मान पत्र, शॉल, श्रीफल आदि प्रदान करके सम्मानित किया गया। इस अवसर पर संस्कृतिकर्मी साहित्यकार वसंत निरगुणे भी विशेष रूप से उपस्थित थे।

'कला मंदिर' में नए अध्यक्ष

भोपाल स्थित दुष्यंत पाण्डुलिपि संग्रहालय के सभागार में वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. मूलाराम जोशी द्वारा 'कला मंदिर' के नव निर्वाचित अध्यक्ष श्याम बिहारी सक्सेना को दिलवाई गई। निवृत्तमान अध्यक्ष डॉ. रामवल्लभ आचार्य का भी पुष्प मालाओं से स्वागत किया गया। आचार्य ने संस्था की गतिविधियों पर प्रकाश डाला एवं सभी साहित्यकारों से मिले सहयोग का स्मरण किया। कार्यक्रम में स्मारिका ''कला वीथिका'' का लोकार्पण हुआ। इसके पश्चात् साहित्यकार, रंग संवाद एवं कला समय जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के संपादक विनय उपाध्याय को उनके समग्र अवदान हेतु 'शब्द सारथी' सम्मान से अलंकृत किया गया। कार्यक्रम के अगले चरण में श्याम बिहारी सक्सेना ने कहा कि जो जिम्मेवारी कला मंदिर के अध्यक्ष के रूप में उन्हें मिली वे उसका निर्वहन सबके सहयोग से संस्था को आगे बढ़ाने में करते रहेंगे। साहित्यकार मूलाराम जोशी, देवेन्द्र दीपक और युगेश शर्मा ने कहा कि श्याम बिहारी के सुदीर्घ अनुभव का निश्चित ही संस्था को लाभ मिलेगा। संचालन युवा साहित्यकार घनश्याम मैथिल 'अमृत' ने किया।

दैहिक व्यभिचार पर तीखे कटाक्ष

रिश्तों-नातों और कर्तव्यों के बीच फैले जीवन का आनंद जब सिर्फ भोग की कामनाओं तक सिमट जाता है, तब एक मुकाम पतन का भी आता है। देह की बाहरी लालसाएँ आत्मा का असल सुख छीन लेती हैं। विश्वास के ताने-बाने से बुने परिवार और समाज के बिखरते हालात पश्चाताप और निराशा के भयानक भविष्य की मजबूरी बन जाते हैं। इसलिए सुखमय जीवन की बुनियाद है- भोग की बेलगाम इच्छाओं पर नियंत्रण।

भारत भवन भोपाल के अंतरंग प्रेक्षागृह में इन्हीं ज्वलंत सवालों और बेचैनियों की पड़ताल करती प्रस्तुति 'देहान्तर' दर्शकों से संवाद करती रही। 'कोशिश' नाट्य संस्था द्वारा संयोजित इस विचारोत्तेजक प्रस्तुति को वरिष्ठ रंगकर्मी असीम कुमार दुबे ने जिस निर्देशकीय कौशल और गहरी संवेदना से प्रयोग में ढाला है वह काबिल-ए-गौर है। हिन्दी के प्रकाण्ड चिन्तक नंद किशोर आचार्य का यह नाटक देह और आत्मा के बीच भोग की वृत्ति को लेकर एक पुरातन कहानी के जरिये हमारे आज के दौर पर जबरदस्त कटाक्ष करता है। इस समय जबकि दैहिक व्यभिचार की अनेक घटनाएँ सुर्खियों में आकर सामाजिक बहस का बड़ा मुद्दा बन रही हैं तब 'देहान्तर' का मंचन एक मौजू वैचारिक हस्तक्षेप साबित होता है।

अपनी कलात्मक बुनावट में यह नाटक अनेक कसौटियों पर खरा उतरता है। असीम ने सदियों पुरानी कथावस्तु की वर्तमान प्रासंगिकता को सजीव करने हर उस पक्ष को रचनात्मक दृष्टि से प्रभावी बनाने की पहल की है जो दर्शकों से जुड़ सके। लिहाजा किरदारों के चयन से लेकर संगीत-निर्देशन, कोरियोग्राफी और मंच तथा प्रकाश आकल्पन तक अनुभवी तथा प्रतिभाशाली कलाकारों के समूह ने अपने मोर्चों पर काबिलियत का परिचय दिया है। लंबे अभ्यास के दौरान निर्देशक ने विशेषज्ञों से विमर्श कर मंचन के लिए जरूरी संदर्भ जुटाए। बेशक इन प्रतिबद्धताओं के साक्ष्य 'देहान्तर' के पहले दृश्य से आखिर तक दिखाई देते हैं। लगभग दो घण्टे अवधि की प्रस्तुति संवाद, अभिनय, संगीत और दिग्दर्शन की बेमिसाल बानगियों के साथ दर्शकों को अपने सम्मोहन में बांध लेती है। नाटक की कहानी के केन्द्रीय किरदार ययाति (राजीव श्रीवास्तव), शर्मिष्ठार (स्वास्तिका चक्रवर्ती), पुरू (असीम कुमार दुबे) और विन्दुमति (रोजी सत्पथी) हैं। सारा घटनाक्रम और मानसिक ऊहापोह उन्हीं चरित्रों के आसपास है जो शरीर के भँवर के बीच फँसे मनुष्य तथा सच्चे सुख और आनंद के लिए कसकते आत्मा के बीच तमाम संशयों, और सवालों का संजाल बुनते हैं। नाटक अंतिम सिरे पर जाकर उस सनातन सच की प्रतिष्ठा करता है जहाँ स्त्री और पुरुष के बीच भोग से परे प्रेम के निश्छल और संतुलित आचरण ही अहम है।

शर्मिष्ठा की भूमिका में स्वास्तिका चक्रवर्ती बहुत गहरे अहसासों तक जाकर अपने भीतरी संघर्ष को उजागर करने में सफल रही हैं। राजीव श्रीवास्तव ने अपने किरदार को पूरी दक्षता से मांजा है। नाटकीय संवाद और देह मुद्राओं की बदलती गतियों में वे काफी हद तक संतुलन बनाते हैं। रोजी सत्पथी की आमद रंगमंच पर नई-नई है लेकिन वे जिस आत्मविश्वास के साथ अपनी भूमिका में प्रवेश करती हैं उसकी तारीफ की जा सकती है। असीम दुबे वृद्ध पुरू के लिए बेहद सटीक हैं। वे नाटक के चरम का प्रतीक हैं जहाँ कथानक जीवन दर्शन की व्याख्या करता अपने मूलगामी विचार को पा लेता है। अन्य भूमिकाओं में दीपक परिहार (शुक्राचार्य), प्रिया भदौरिया (मंगला), प्रियेश पाल, (अनुचर) और रिश्म आचार्य (परिचारिका) भी बेहतर तालमेल बनाते हैं। नाटक का एक और उज्जवल पहलू उसका संगीत प्रभाव है जिसे पुनीत वर्मा और विवेक मृदुल ने मिलकर बेहद कर्णप्रिय और मार्मिक धुनें रचकर संभव किया है। लता सिंह मुंशी ने कुछ दृश्यों में सुंदर देह गतियां तैयार की हैं। जबकि अनूप जोशी बंटी का प्रकाश कल्पन कहानी में आए भावनात्मक उतार-चढ़ाव और परिवेश को आकल्पन में अपनी कलात्मक सूझ-बूझ का परिचय देते हैं। वरिष्ठ रंगकर्मी और नाट्य संस्था कोशिश की संस्थापक सरोज शर्मा ने अपनी निर्देशकीय सलाहों और मार्गदर्शन से इस नाटक को समग्रता प्रदान करने में सदाशय का परिचय दिया है।

मुद्दों के नाटक

स्त्री पर होते अत्याचार, धर्म और सत्ता के चंगुल में बंटते-कटते समाज और लोग, परिस्थितियों की आड़ में बचपन से बिखरते सपने लेकिन इन सबसे जूझकर जिंदगी और समाज को एक नई दशा और दिशा दिखाने की कोशिश एक सकारात्मक संदेश देती है। इन संवेदनाओं से पिछले दिनों छिंदवाड़ा के कलाप्रेमी रंगमंच पर रूबरू हुए। मौका था पांचवे राष्ट्रीय नाट्य समारोह का। समसामयिक मुद्दों को लेकर देशभर के आए रंगकर्मियों ने पांच दिन अलग-अलग प्रस्तुतियाँ दीं।

राष्ट्रीय नाट्य समारोह का यह पांचवा वर्ष था। 18 से 22 दिसंबर तक चले इस समारोह की शुरुआत जम्मू के रंगकर्मी लकी गुप्ता की एकल प्रस्तुति 'माँ मुझे टैगोर बना दो' से हुई। रंग आलोक संस्था के बेनर तले युवा निर्देशक, अभिनेता लकी देशभर में पिछले पांच सालों से यह नाटक करते आ रहे हैं। छिंदवाड़ा में उनकी 400वीं प्रस्तुति थी। मोहन भंडारी की पंजाबी कहानी पर आधारित इस प्रस्तुति ने दर्शकों को खूब भायी। कविवर टेगौर की तरह बनने और उनकी तरह कविता लिखने के सपने देखने वाले एक अशिक्षित और गरीब लड़के की परिस्थितियों से संघर्ष और फिर सफल होने की यह कहानी ई बार देखने वालों की आँखें नम कर गईं। लकी का अभिनय लाजवाब था। इस प्रस्तुति ने यह साबित किया कि थियेटर सिर्फ मनोरंजन नहीं एक सकारात्मक परिवर्तन लाने का माध्यम भी बन सकता है।

दूसरे दिन आयोजन संस्था छिंदवाड़ा की नाट्यगंगा के कलाकारों ने मुमताज भाई पतंगवाले की प्रस्तुति दी। यह कहानी भी एक बच्चे के इर्द-गुर्द घूमती है। पतंगबाजी का बेहद शौकीन बच्चा मुमताज भाई की तरह पतंग बनाना चाहता है। इस बीच परिस्थितियाँ ऐसी बनती हैं कि वह गुस्से में पतंग की वह दुकान जला देता है और मुंबई चला जाता है। सालों बाद उसे एक फोन आता है मुमताज भाई का। वे उसे फिर से गांव बुलाना चाहते हैं। मानव कौल के लिखे नाटक में छिंदवाड़ा के युवा कलाकारों ने बेहद सधा अभिनय किया। सचिन मालवी ने इसका निर्देशन किया था। वे अब इसमें रमते और मंझते जा रहे हैं। सचिन वर्मा और अमजद खान नाटक की रीढ़ कहे जा सकते हैं। दोनों के संजीदा अभिनय ने खूब तालियां बंटोरी।

तीसरे दिन भागलपुर बिहार की संस्था रंगालय ने रंगराग का मंचन किया। शासक के दंभ और स्वार्थ की बलि पर चढ़ते गरीब परिवार की यह कहानी है। राजस्थानी लोककथा सती का स्वांग पर आधारित नाटक में घूम-घूम कर अभिनय दिखाकर पेट भरता एक भांड राजसत्ता के चक्रव्यूह में फंसकर एक दिन सती का स्वांग रच सचमुच जान दे देता है। निर्देशक और अभिनेता चैतन्य प्रकाश की एकल प्रस्तुति ने दर्शकों को बांधे रखा। कई पात्रों को उन्होंने अकेले जिया और बखूबी। कबीर, खुसरो के दोहे प्रासंगिक दिखे तो मीरा के भजन ने भी उन्हें जीवंत बनाया।

चौथे दिन अमरावती महाराष्ट्र के अध्ययन भारती की प्रस्तुति साइलेंट स्कीम जुल्म की शिकार महिलाओं की जिजीविषा और फिर से दुनिया में सर उठाकर जीने को प्रेरित करता दिखा। अपने पिता से ही जुल्म का शिकार होकर बुरी तरह टूट चुकी लड़की अपनी अंतर्रात्मा की आवाज को सुन फिर जीवन की नई शुरुआत करती है। नाट्य समारोह के पांचवें और अंतिम दिन दे विदेश में मशहूर 'जिन लाहौर नई देख्या' का मंचन हुआ।

भारत विभाजन की सियासत से पैदा हुई टीस और राजनीति की चालों में फंसी बेगुनाह जनता ने विभाजन की विभीषिका को झेला है यह दंश आज भी साल रहा है। इसे अशगर वजाहत ने लिखा। हबीब तनवीर ने निर्देशित किये नाटक को भोपाल का नया थियेटर छिंदवाड़ा लेकर आया। तनाव और युद्धोन्माद में अमन की मीठी तान यह नाटक सुनाता है। **-संदीप चौरे**

नारी की व्यथा-गाथा 'मत्स्यगंधा'

''कारवाँ, भोपाल की मो. नजीर कुरैशी के निर्देशन में सजी नाट्य प्रस्तुति 'मत्स्यगंधा' पिछले दिनों देश भर में अपने सफल मंचनों को लेकर चर्चा में रही। इस नाटक को भीलवाड़ा (एल एंड जे) समूह द्वारा वर्ष 2012 की श्रेष्ठ हिन्दी नाट्य प्रस्तुति का राष्ट्रीय सम्मान विगत दिनों प्राप्त हुए। उसके तहत संस्था को रु. 2 लाख का नकद पुरस्कार और स्मरण चिन्ह वरिष्ठ भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी के हाथों नई दिल्ली में प्रदान किया गया। नाटक में अभिनय और निर्देशन के साथ संगीत और गायन ने भी खासी लोकप्रियता अर्जित की है। इस प्रस्तुति और उसके गीत संगीत से जुड़े रोचक पहलुओं पर, खुद नाटक के **गीतकार-संगीतकार और सुपरिचित रंगकर्मी विवेक सावरीकर 'मृदुल'** की कलम से प्रस्तुत है यह संस्मरणात्मक आलेख-''

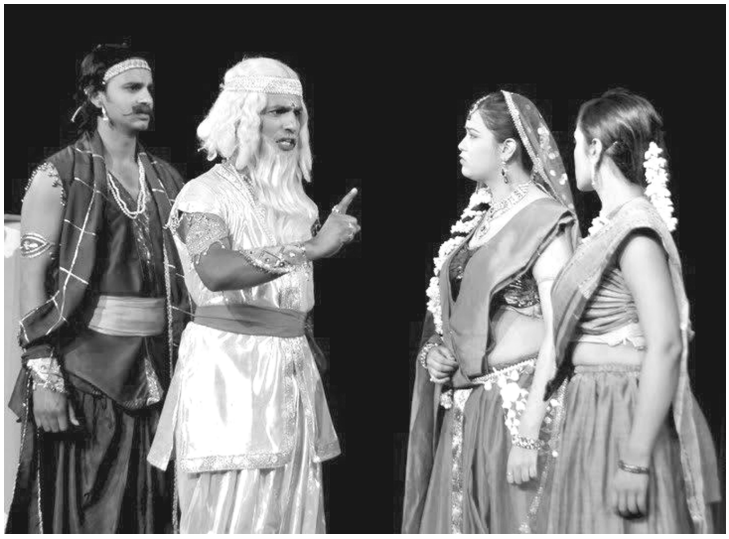

'''मत्स्यगंधा' नाटक कर रहा हूँ, गीत लिखोगे?'' जब वरिष्ठ रंगकर्मी और 'कारवाँ, भोपाल नाट्यदल के निर्देशक मो. नज़ीर कुरैशी ने मुझसे प्रश्न किया, तो एकबारगी मैं सोच में पड़ गया। मत्स्यगंधा - प्रसिद्ध मराठी नाटककार स्व. वसंत कानेटकर की ऐसी सदाबहार नाट्यकृति, जो पं. जितेन्द्र अभिषेकी जी के लोकप्रिय नाट्यपदों के संगीत और गायन के लिए जानी जाती है। शायद ही कोई मराठी रंग-प्रेमी हो जिसे 'मत्स्यगंधा' के गीत (नाट्यपद) - साद देती हिमशिखरें या 'गुंतता हृदय, कमलदलाच्या पाशी' कंठस्थ-हृदयस्थ न हो। मराठी में तो संगीत नाटकों की अपनी वृहत परंपरा रही है। पर हिन्दी में ऐसा नहीं है। ब.व. कारंत, हबीब तनवीर जैसे दिग्गज निर्देशकों ने नाटकों में 'लाइव गायन' का जो अभिनव प्रयोग किया, उसने हिन्दी रंगमंच को एक समझदार और परिपक्व सांगीतिक समझ जरूर दी है, पर वह 'क्लासिकल संगीत' से (ही) बद्ध नहीं है। इसमें लोक संगीत, प्रादेशिक संगीत और जन-संकीर्तनों का भी योगदान है तो हिन्दी की शुरुआती पारसी शैली के संस्कार भी। कुल मिलाकर इस प्रसिद्ध नाटक में मैं ऐसे गीत लिखूँ जो 'मराठीपन' की जगह हिन्दी रंगमंच की परंपराओं से मेल खाते हों, यही मैंने अंतिम रूप से सोचा, और कम में जुट गया।

नाटक का कंटेंट

कथानक पूर्व महाभारत काल का है, जब मछुआरे धीवर की लावण्यवती पुत्री पर सम्राट शांतनु मुग्ध होते हैं। सत्यवती शर्त रखती है कि वह तभी सम्राट से विवाह करेगी जब उसके होने वाले पुत्रों को ही हस्तिनापुर का उत्तराधिकारी बनाया जाए। इसके बाद शांतनु का भाव-विव्हल होना और पुत्र देवव्रत का आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने की भीष्म प्रतिज्ञा लेना आदि बहुश्रुत विषय है। नाटककार कानेटकर ने भीष्म की प्रतिज्ञा को 'हाईप' देने के बजाए एक त्रिकालदर्शी की भाँति चिंतन-विश्लेषण किया है, जो नाटक में पात्रों के संवादों के जरिए सामने आता है। महर्षि पराशर द्वारा सत्यवती को भोगे जाने और फिर कौमार्य वापस देकर चले जाने से सत्यवती का कोमल मन अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। अब उस मन में बची है पुरुषों के प्रति केवल प्रतिशोध की आग या उन्हें मोहवश कर अपना अभीष्ट साधने की चिरपरिचित वणिक बुद्धि। नाटक में 'भीष्म प्रतिज्ञा' की न केवल कटु आलोचना की गई है, बल्कि उसकी आवश्यकता पर भी प्रश्न उठाए गए हैं। दुर्भाग्य से कानेटकर लिखित यह महत्वपूर्ण नाटक 'मराठी नाट्य संगीत' के कर्णमधुर पदों के लिए तो खासा लोकप्रिय हुआ, मगर नारी-मुक्ति के स्वरों की गूँजी इसी संगीत में दबकर रह गई। और यही वह बिन्दु है जहाँ नज़ीर कुरैशी की प्रस्तुति ऊपर उठती दिखती है।

प्रस्तुति की ख़ासियत

इस नाटक की मराठी प्रस्तुतियों में अभी भी पारसी थिएटर वाला महल, जंगल और नदी तट को चित्रित करने वाले परदे लगाने का रिवाज है। बाकी 'सैट' के अभिनय क्षेत्र को खाली रखा जाता है ताकि गायक-नट और नटी अपने संवाद और गीत सहजता से बोल या गा सकें।

इस मायने में 'कारवाँ' भोपाल का नज़ीर कुरैशी का स्टेज-विन्यास प्रथम दृष्टि में ही मन को मोह जाता है। नदी की लहरों को प्रकाश परिकल्पना से उभारा जाना, तट को दिखाने वाला लंबा प्लेटफॉर्म, धीवर की कुटिया, साथ ही अल्हड़ सत्यवती के लिए झोपड़ी के पास एक लटकता झूला बेहद सहज और

मत्स्यगंधा के निर्देशक : नज़ीर कुरेशी

'मत्स्यगंधा' की कामयाबी के किरदार साथ-साथ

यथार्थपरक लगता है। महल के दृश्यों के लिए चार पिलर्स लगाकर और गाव-तकिए-कालीन बिछाकर कला-रसिकता का अच्छा निर्वहन किया गया है। इसी के साथ दो मिनट के भीतर धीवर की कुटिया और झूले को मंच से ओझल करना भी निर्देशक की पारखी नजर का प्रमाण देते हैं।

मजबूत अभिनय पक्ष

'मत्स्यगंधा' नाटक के केंद्रीय किरदार में भावना श्रीवास्तव का मर्मस्पर्शी अभिनय देखते ही बनता है। उसकी चंचलता, उसका चीत्कार, उसकी वक्रोक्तियाँ और उसका गांभीर्य सब बहुत सहजता से होता है। देवव्रत भीष्म के रूप में दिनेश नायर आंगिक मुद्राओं और 'वायस माड्युलेशन' से काफी प्रभावित करते हैं। उनके अभिनीत 'भीष्म' में धारावाहिक 'महाभारत' के हम सबके दिलोदिमाग में बसे भीष्म की गहरी छाप है। यह उनकी अच्छाई भी है और यही थोड़ी कमी भी। परंतु इधर जैसे-जैसे नाटक के पुनर्मचन बढ़ते जा रहे हैं, उनकी अभिनय शैली में मौलिकता आती जा रही है। प्रस्तुति में 'चंडोल' के किरदार में उबेदुल्लाह खान वैसे सर्वाधिक सराहे गए हैं। उसके दो बड़े कारण हैं- एक तो यह कि इस गंभीर प्रस्तुति में अकेले चंडोल का पात्र ही 'रिलीफ' देता है और हास्य की झालर लगाता है। दूसरा बड़ा कारण उबेदुल्लाह का आवाज की 'बेयरिंग' पूरी तरह से बदलकर चरित्र के साथ एकरूप हो जाना है। स्थिति ऐसी बन गई है कि उबेद की एंट्री होते ही शेष किरदारों की बात करें तो धीवर (प्रदीप नेमा), प्रियदर्शन (सैफु खान) और पराशर (प्रेम सावलानी) ने अपनी लघु किन्तु महत्वपूर्ण भूमिकाओं के साथ पर्याप्त न्याय दिया है। अंदा (श्रुति सिंह) और शांतनु (विजय बोरग्वे) की भूमिकाएँ नाटक का रुख बदलती हैं, इस लिहाज से इन चरित्रों में 'ऊर्जा' और भावना विवशता की अनूठी झलक मिलनी चाहिए। परंतु अभी इनमें थोड़ा और काम होना बाकी है। श्रुति सिंह की संवाद अदायगी अच्छी है और 'अंबा' की वेशभूषा में वे अत्यंत सुंदर दिखती हैं। किन्तु उन्हें 'अंबा' के किरदार की थोड़ी और 'स्टडी' करना जरूरी है। शांतनु (विजय बोरग्वे) की संवाद अदायगी में 'रामलीला प्रस्तुतियों' की लाउडनैस है। नाटक के प्रारंभिक दृश्यों में संजय भोस्कर (कालर्षि), बटु (मनोज भामा) प्रभावी काम करते हैं। अन्य किरदारों में परवेज खान, शकील चांद आदि दिखते हैं।

वेशभूषा - रंगभूषा

नाटक की वेशभूषा और रंगभूषा दोनों में अच्छा कार्य हुआ है। ज्योति सावरीकर-सिमरन की वेशभूषा और प्रभात राज निगम की रंगभूषा पौराणिक पात्रों को पुनर्जीवित करती है। देवव्रत भीष्म का मध्यांतर पश्चात श्वेत केश-दाढ़ी में रूपांतर अच्छा हुआ है। आजकल टीवी धारावाहिकों में तो 'लीप इयर' होता ही रहता है। पर सीमित अवधि में मंच पर इसे दिखाने का निर्देशक ने अच्छा प्रयास किया है। वैसे राजमाता सत्यवती और प्रियदर्शन के बालों पर भी थोड़ी सफेदी और झलकती, तो बढ़िया रहता।

गीत-संगीत

इस नाटक में नारी की व्यथा को निर्देशक ने बहुत शिद्दत से उठाया है। इसलिए नाटक के भरत वाक्य में इस ओर दर्शकों का ध्यान केंद्रित हो, ये जरूरी लगा। इसलिए गीत बनाया - ''पूर्ण होती है यहीं, मत्स्यगंधा की कथा, पर नहीं हो पायी अब भी, खत्म नारी की व्यथा।'' इन पंक्तियों को शुरू के कुछ मंचनों में हम विंग्स से गाते थे। परंतु दृश्य में अधिक प्रभाव डालने और गीत के दौरान 'कर्टेन कॉल' में मंच पर आने वाले कलाकारों के साथ गायन-तालमेल बनाए रखने के लिहाज से मैंने और सहगायक शिशिर लोकरस और संदीप शर्मा ने बाकायदा कास्ट्यूम पहनकर स्टेज से गायन करना प्रारंभ किया जिसका प्रतिसाद काफी उत्साहजनक रहा। भैरवी राग में इस गीत की धुन बनाई है। बाकी गीतों में 'देह में घुल रही कस्तुरी गंध है' और पूरिया धनाश्री में 'मेरे जीवन में छाया, घोर अंधकार' काफी कर्णप्रिय गीत है। राग मिश्र बसंत में एक तराना - दिर दिर दिर दिर तोम तन नन नन देरेना' समूचे नाटक के लिए 'फिलर' के साथ कथानक के अनुकूल वातावरण तैयार करने का काम करता है। पुनीत वर्मा ने वायलिन से और अनिल संसारे-लक्ष्मीनारायण ओसले ने क्रमशः हारमोनियम और तबले पर उत्तम संगत की है। खासकर विवाह-दृश्य में पुनीत की वायलिन राग मालकौंस में विशेष प्रभाव छोड़ती है। नाटक का शीर्षक गीत - मैं मत्स्यकन्या, लहरों की रानी और 'प्रियतम मिलन को उत्सुक आली' कथानक को आगे बढ़ाने और दृश्य-बंध में लावण्य भरने में मददगार बनते हैं। गीत की अंतिम पंक्तियों में नाटक का सार तत्व ऐसे आता है-

बोझ ढोने के लिए, अभिशप्त है वो
समाज का 'देवी' के जयनाद का, 'दासी' के
अवसाद का ये झलक थी अतीत की, देखिए
और सोचिए वर्तमान के वास्ते, सीख इससे लीजिए
पूर्ण होती है यहीं, मत्स्यगंधा की कथा।

जनचेतना के विद्रोही तेवर

राखी झँवर

जनचेतना की अलख जगाने 'आदि विद्रोही' समारोह ने इस बार अपनी रंग माला में कुछ ऐसे मोती पिरोए जो सामाजिक ताना-बाना लिए भोपाल के रंगमंच पर नई छटा बिखेर गए। म.प्र. संस्कृति विभाग का स्वराज संस्थान संचालनालय पिछले नौ सालों से आदि विद्रोही नाट्य समारोह का आयोजन कर रहा है। इस सात दिवसीय प्रस्तुतियों के कथा-कलेवर, रूप-विन्यास और निर्देशकीय शिल्प के अनूठेपन को मुक्त कंठ से सराहा भी गया।

इतिहास की पृष्ठभूमि को रंगमंच पर एक अनोखे स्वरूप में पेश करना अपने आप में गर्व का विषय है। भारत की स्वाधीनता किसानों, मजदूरों, सैनिकों, सन्यासियों, फकीरों, कारीगरों, साहूकारों, छात्रों, शिक्षकों के साथ अन्य सभी भारतीयों की कुर्बानी से ही संभव हुई है। वहीं वो आदिवासी जिन्हें हम दोयम दर्जे का और पिछड़ा समझते हैं, उन्होंने सबसे ज्यादा अंग्रेजों से लोहा लिया।स्वराज संस्थान ने इन्हीं विद्रोहियों के पराक्रम की गाथा दिखाने नाट्य समारोह की शुरुआत की ताकि नई पीढ़ी संघर्ष गाथा देख और सुन सके। पिछले नौ साल की आदि विद्रोही यात्रा दिखाने एक फोटो प्रदर्शनी का आयोजन भी किया।

समारोह की शुरुआत भोपाल के रंगकर्मी और निर्देशक संजय मेहता द्वारा निर्देशित नाटक 'संत तुकाराम' से हुई। कथानक के अनुसार भजनों में लीन तुकाराम भौतिक जगत से बहुत दूर रहे। भजन और अभंग गाकर समाज को जागृत करने की कोशिश करते थे। हालांकि उनकी इस भक्ति से समाज में ही रहने वाले कुछ पाखंडी लोग उनका पथभ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। बावजूद इसके उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा। समारोह के दूसरे दिन युवा निर्देशक हिदायत समी द्वारा निर्देशिक नाटक 'उमराव जान' का मंचन हुआ। यह प्रस्तुति आरंभ संस्था मुंबई की रही।यह नाटक मिर्जा हादी रुसवा द्वारा रचित उर्दू उपन्यास उमराव जान अदा पर आधारित है, जिसका नाट्य रूपांतरण पूर्वा नरेश ने किया। इसमें फिल्म अभिनेत्री नीतू चंद्रा ने उमराव जान का किरदार निभाया। यह नाटक एक छोटी बच्ची की कहानी है, जिसे बचपन में ही अगवाह कर लिया जाता है, जो बाद में एक मशहूर तवायफ के नाम से जानी जाती है। यह 1850 की कहानी है। उमराव के भीतर एक ज्वाला सुलगती है। वह अपने अतीत को छोड़कर, खुद के लिए एक स्वतंत्र राह बनाती है। नाटक में निदा फाजली, आयंगर और वाजिद शाह के कलामों ने मौसिकी भर दी। समारोह की तीसरी शाम 'तरानये कफस' के नाम रही। नजर ग्रुप भोपाल के इस नाटक का निर्देशन अभिनेता और रंगकर्मी अहमद खान ने किया। यह नाटक बाकी नाटकों से काफी अलग था। इसमें मुशायरे, जलसे और महफिलों को कुछ अलग ही अंदाज में पेश किया गया। यह नाटक एक वाकये पर आधारित है जो 1922 में हुआ था। अंग्रेजों ने उन सभी शायरों और कवियों को जेल में बंद कर दिया था जो लोग आजादी की लड़ाई में हिस्सा ले रहे थे। जब ये जेल में बंद थे तो बहुत सी कविताएं, नज्में और गजलें लिखी थीं। जेल में बंद विद्रोहियों ने मुशायरे भी किए।

जानेमाने रंग निर्देशक सईद आलम द्वारा निर्देशित नाटक 'यू विल कम बैक बापू' ...दर्शकों के दिलों में एक छाप छोड़ गया। यह कहानी है उन दोस्तों की जो अभी नादान हैं, जिंदगी की जद्दोजहद से बहुत दूर हैं। महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद एक मुस्लिम लड़का फजल अली उन्हें पत्र लिखता है। फजल भोला-भाला है, जिंदगी को अभी उसने पूरी तरह से जिया भी नहीं है। फजल और उसके दोस्त गोपाल, सीमा, मोहन, बंदे अली, जेनब को लगता है कि गंधीजी की मृत्यु उनके कारण हुई है, क्योंकि वे सभी आपस में हमेशा लड़ते थे और उन्होंने बापू के अहिंसा के सिद्धांत की उपेक्षा की। नाटक एकल अभिनय पर था, बावजूद इसके अहमद ओमेर ने फजल अली का किरदार बहुत ही बेहतर तरीके से निभाया। कहानी ख्वाजा अहमद अब्बास की है, प्रकाश परिकल्पना विजय गुप्ता, वेशभूषा जमजेब, प्रस्तुति संजय गुप्ता की रही। पति-पत्नी के बीच प्रेम, फिर दूसरी शादी और आखिर में किसी तीसरे के होने की आहट... यही हैं 'मध्यवर्तिनी'।

गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की कहानी पर आधारित है यह नाटक। इस कहानी का नाटक रूपांतरण नरेन पाटगिरी ने किया और निर्देशक बहरुल इस्लाम हैं। इसमें पति-पत्नी के बीच तीसरे की आहट को बहुत ही खूबसूरती से मंच पर दिखाया। सीगल थिएटर गुवाहाटी की यह प्रस्तुति सभी को पसंद आई। इसमें वेशभूषा अरुंधती कलिता, प्रकाश भागीरथ, प्रकाश संचालन प्रबीन सैकिया, नृत्य संयोजन गुणाकर देव गोस्वामी, सेट व्यवस्था मनोज, कोकिल, रूपम, संगीत संचालन दिनेश काकती, राजीव दास का रहा। छठवें दिन युवा निर्देशक सुमंत गंगोपाध्याय ने स्मृति भंग की थीम पर केंद्रित रखा अपना नाटक 'अजन्तोबास।' उन्होंने स्मृति भंग की एक सहज सरल कहानी को घुमावदार मोड़ देते हुए और मनोवैज्ञानिक तरीके से उसे पेश करने की कोशिश की है। नाटक की कहानी को बहुत ही कसावट के साथ पेश किया गया। लाइट और साउंड के लिए निर्देशक बधाई का पात्र है। पूरे नाटक को लाइट इफेक्ट्स ने बेहतरीन बना दिया। नाटक में संगीत परिकल्पना स्वातिलेखा सेनगुप्ता, रूपसज्जा मलय दास, वेशभूषा सोहिनी सेनगुप्ता, संगीत रचना मयूख-मैनाक की रही।

समारोह के समापन पर गिल्लो थिएटर रेपर्टरी मुंबई की प्रस्तुति 'ताऊस चमन की मैना' का निर्देशन वरिष्ठ रंगनिर्देशक अतुल तिवारी ने किया है। मोरों के शाही बगीचे में एक विस्मित करने वाले विशालतम पिंजरे का निर्माण कार्य जारी है, जिसमें बोलने वाली चालीस मैनाओं को रखा जाना है। जल्दी ही इसके चहचहाते, जीवंत बाशिंदे काले खाँ की निगरानी में अपनी एक अलग और अनूठी दुनिया बसाएंगे। काले खाँ को जाने क्या होता है और वह इनमें से एक मैना अपनी बिना माँ की छोटी सी बिटिया के लिए चुरा ले जाता है। नाटक में विध्नेश सिनकर, मनोज कुमार कारकी, विएन्का वर्मा, अफसाना अहमद, शर्वरी देशपांडे, देविना मेद्दा, अमित भार्गव, प्रसाद दागरे, निष्णा मेहतास घनश्याम तिवारी, हर्षद तांबे आदि का अभिनय है। प्रकाश इशिता दवे, निष्णा मेहता, वेशभूषा तान्या महाजन, रचनात्मक निर्देशक शैली सत्थ्यू का है।

'आदि विद्रोही' मनोरंजन के लिए नहीं

स्वराज संस्थान संचालनालय के संचालक श्रीराम तिवारी का कहना है, यह मेरे मन का भाव है कि स्वतंत्रता के विचार को विभाजित नहीं किया जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि स्थानीय स्तर पर स्वतंत्रता का भाव अलग है और राष्ट्रीय स्तर पर अलग है।देश की आज़ादी के जो प्रयास हुए हैं, वो देश के बाहर भी हुए हैं। आइडिया यह है कि कम से कम हम सरकारी ढांचे में रहकर भोपाल में ऐसा फोरम बना सकते हैं जो एशियाई चेतना को रिप्रेजेंट करता हो। यह महज मनोरंजन के लिए नहीं है।

ताज़गी का एहसास

बद्र वास्ती

म.प्र. साहित्य अकादेमी के अल्लामा इकबाल साहित्य प्रभाग के तत्वावधान में चार दिवसीय उर्दू नाट्य समारोह का आयोजन किया गया। समारोह भोपाल के रवीन्द्र भवन में जारी रहा जिसमें चार उर्दू नाटक प्रस्तुत किये गये। चारों ही नाटक भोपाल के ही चार निर्देशकों द्वारा तैयार किये गये। खास बात यह भी है कि दो नाटक भोपाल के दो लेखकों द्वारा लिखित हैं।

2010 में अल्लामा इकबाल साहित्य प्रभाग द्वारा शुरू किये गए उर्दू नाट्य समारोह के आयोजन का यह लगातार चौथा वर्ष रहा जिससे राजधानी में आयोजित होने वाले उर्दू नाट्य समारोहों के बीच एक ताजगी का एहसास होता है। यहाँ यह बात भी सामने आती है कि हिन्दी रंगमंच की सशक्त परंपरा के दरम्यान अच्छी स्क्रिप्ट की कमी होने की जो बात होती है और यूरोपीय भाषाओं के नाटक अनुवाद किये जाते हैं वहीं एक भारतीय भाषा उर्दू में लिखे गए कुछ नाटकों का लिप्यांतरण यदि कर लिया जाए तो काफी हद तक इस कमी को पूरा किया जा सकता है। उर्दू नाटक में अभिनय करने से अभिनेताओं के भी एक फायदा होता है वह यह कि वह एक और भाषा और संस्कृति से परिचित तो होते ही हैं। उनके उच्चारण और अदायगी में भी सुधार आता है जो कि बहुत जरूरी है।

समारोह में मंचित चारों ही नाटकों में अधिकतम संख्या में गैर ऊर्दू भाषी अभिनेताओं ने अभिनय किया और अपने किरदारों के साथ इंसाफ भी किया। समारोह के पहले दिन भोपाल थियेटर्स के कलाकारों द्वारा वरिष्ठ फिल्म एवं रंगमंच अभिनेता राजीव वर्मा के निर्देशन में भोपाल के वरिष्ठ नाटककार स्व. इब्राहीम मयूसुमा का लिखा नाटक, वक्त के कराहते रंग पेश किया गया।

उर्दू नाट्य समारोह

जिसमें रोजाना की जिंदगी के दुख-सुख और कराहें और बदलती हुई जिंदगी के मूल्यों का टकराव बखूबी पेश किया गया है। इस नाटक में भोपाल के वरिष्ठ कलाकार श्याम मुंशी, रीना वर्मा और अशोक बुलानी सहित कई कलाकारों ने भाग लिया।

21 सितंबर की शाम को संभावना द्वारा वरिष्ठ रंगकर्मी जावेद जैदी के निर्देशन में कृष्ण बलदेव द्वारा लिखित नाटक ख्वाबीदा सवाल प्रस्तुत किया गया जिसका जावेद जैदी द्वारा ही अनुवाद किया गया है। यह नाटक कृष्ण बल्देव वैद्य द्वारा सवाल और स्वप्न शीर्षक से लिखा गया है जिसका उर्दू अनुवाद जावेद जैदी ने ''ख्वाबीदा सवाल'' के नाम से किया है। नाटक के केंद्रीय पात्र वंदना के मन में उठते सवाल और उसके सपनों के बहाने हर स्त्री के भीतर उठते सवालों के सामने लाया गया है नाटक में लगभग सभी ऐसे कलाकारों ने अपने अभिनय का प्रदर्शन किया जो अभी रंगमंच पर अपनी जगह बनाने का प्रयास कर रहे हैं। सभी ने सराहनीय अभिनय करके भविष्य के प्रति आशा जगाई। 22 सितंबर की शाम को प्रस्तुत बैगम का तकिया नाम का नाटक हम थियेटर ग्रुप द्वारा बालेन्द्र सिंह के निर्देशन में तैयार किया गया है। जिसे पं. आनंद कुमार ने लिखा है। यह नाटक नेकी और वदी पर रोशनी डालता है लेकिन रोचक अंदाज में। अपने आप में भरपूर नाटकीयता समेटे पूरा कथानक दर्शकों को बांधे रखने में सफल रहा।

अमीरी, गरीबी, दौलत, औरत, जज्बात इंसानी रिश्ते, जमीन, खुशी औक गम जिंदगी के सभी पहलू इसमें नजर आए और एक अच्छे संदेश के साथ नाटक खत्म हुआ।

समारोह के अंतिम दिन 23 सितंबर को अदाकार संस्था द्वारा फर्रूख शेर खान के निर्देशन में नाटक मान गए दूल्हा भाई मंचित किया गया। यह नाटक भोपाल के उभरते हुए युवा नाट्य लेखक रफी शब्बीर द्वारा लिखा गया है। जिसमें यूँ तो एक मध्य वर्गीय परिवार की शादी और खास तौर से उस मौके पर उस घर के दामाद की गतिविधियों को दिखाया गया है लेकिन कथानक के जरिए दुनिया के उन हालात को भी प्रस्तुत किया गया है जो हमारे चारों ओर नजर आते हैं। नाटक कामेडी स्टाइल में तैयार किया गया है और दर्शकों को खूब हंसाता है।

उर्दू नाट्य समारोह के उद्घाटन अवसर पर साहित्य अकादेमी के उपनिदेशक आनंद सिन्हा मौजूत थे उन्होंने पहले दिन के नाटक के निर्देशक राजीव वर्मा तथा श्रीमति इंदिरा भादुड़ी को पुष्प गुच्छ भेंटकर उनका स्वागत किया। जावेद जैदी, बालेन्द्र सिंह और फर्रूख शेर खान का भी स्वागत किया गया। नाट्य समारोह के चारों दिन नाट्य प्रेमी बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

हिदायत और पूर्वा की अनूठी रंग रचना

बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में मिर्जा हादी रुसवा का उपन्यास उमराव जान अदा इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि अनेक लोग उनकी काल्पनिक नायिका उमराव को यथार्थ का व्यक्ति मानने लगे। यह ठीक उसी तरह है जैसे इम्तियाज अली ताज की अनारकली को ऐतिहासिक चरित्र मान लिया गया है। यह तो इन लेखकों का कमाल है कि उनके द्वारा रचे जीवंत पात्रों को सचमुच में जन्मे इंसान माना गया। उमराव जान अदा को 1857 में गदर के जमाने की ऐसी तवायफ माना गया है जो प्रसिद्ध शायरा थीं। राम बाबू सक्सेना ने उर्दू अदब के अपने इतिहास में यह लिखा है कि उपन्यास को जैसा हम आज मानते हैं, उसका प्रथम उदाहरण मिर्जा हादी रुसवा का यह उपन्यास है।

काबिल-ए-गौर यह है कि जब रुसवा बुजुर्ग हुए तब मुंशी प्रेमचन्द युवा थे। कालांतर में प्रेमचंद की रचना 'शतरंज के खिलाड़ी' भी वाजिद अली शाह के दौर के लखनऊ के सांस्कृतिक वातावरण को बयां करती है जिसका विवरण रुसवा का उपन्यास भी करता है। पृथ्वी थिएटर्स मुंबई में रुसवा के उपन्यास के पूर्वा नरेश द्वारा किए नाट्य रूपांतरण को निर्देशक हिदायत ने बखूबी प्रस्तुत किया। दरअसल इस ऑपेरानुमा प्रस्तुति का असर कुछ ऐसा था कि दर्की को लगा कि वाजिद अली शाह के लखनऊ को देखकर वे आए हैं और टाइम मशीन में इतना पीछे जाने का कमाल भी नाट्य विधा की जीत है। हमें 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के प्रारंभ और पराजय के संकेत भी इस प्रस्तुति में तवायफ के कोठे से मिलते हैं जहाँ जंग के घायल सिपाही भी आते हैं और आजादी के लिए सब कुछ कर गुजरने के हौसले का यह आलम है कि तवायफ भी सिर उठाकर चलती है। उसे उसके उस्ताद सिखाते हैं कि जंग केवल मैदान में ही नहीं लड़ी जाती वरन् हर घर में अपना स्वाभिमान कायम रखकर भी लड़ी जा सकती है।

उस्ताद की मौत का दृश्य हिदायत ने कमाल का गढ़ा है कि उस्ताद उमराव से वाजिद अली शाह का लिखा 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाए, चार कहार मिले, मोरी होलिया सजावें, मोरा अपना बेगाना छुटी जाए...' गाने को कहते हैं और गीत के दरमियान कुछ शागिर्द उन्हें घेर के खड़े हैं तथा गाना खत्म होने पर चार शागिर्द उस्ताद की सफेद चादर को ऐसे ले जाते हैं मानो जनाजा लेकर जा रहे हों। रंगमंच छोटा होता है परंतु निर्देशक अपनी कल्पनाशक्ति से उसे विराट बना देता है।

बारह वर्ष की अमीरन और उसकी सहेली रामदेई को गुंडे उठाकर ले जाते हैं और कोठे पर बैच देते हैं। अमीरन का बचपन कोठे में बीतता है। वहाँ उसका अंतरंग दोस्त गौहर उसे मिलता है जो ताउम्र दोस्ती निभाता है। दोस्ती क्या, वह उससे प्यार करता है परन्तु अमीरन की कीमत नहीं चुका सकता। हिदायत ने एक दृश्य में जवान हो गई उमराव (अमीरन) को आते दिखाया है और वह अपने बचपन (अमीरन) को बिदा करती है परन्तु पूरी प्रस्तुति में जब भी उमराव को बचपन याद आता है तब उसका बचपन अभिनीत करने वाली उसके साथ खड़ी होती है वरन उसकी गजलों को भी तरन्नुम में गाती है।

इसी तरह हिदायत ने पूरी प्रस्तुति में वह जादू और कशिश पैदा की है जिसे पैदा करने की बात उसके उस्ताद उससे कहते हैं और गौहर उसे समझाता है कि इस कशिश से ही इश्क इब्तिदा होता है। इस प्रस्तुति में निदा फाजली ने हिदायत को सलाह दी है और उमराव द्वारा बनाया गीत 'कद्रे उलफत में सितमगर ने न जाने मेरी, हाय मेरा दिली, हाय जिगर, हाय जवानी' भी लिखा है।

पूरी प्रस्तुति का केन्द्रीय विचार स्त्री की स्वतंत्रता है। एक पात्र कहता है कि क्या यह आदर्श सौ साल में संभव है या डेढ़ सौ साल में संभव है? हम सब जानते हैं कि अभी तक कुछ खास नहीं हुआ है। प्रसिद्ध कवि नरेश सक्सेना की बेटी पूर्वा नरेश ने कमाल का लिखा है और उन्हें हिदायत की इस सफलता में बराबर का हकदार माना जाना चाहिए। पूरी प्रस्तुति में महिला स्पर्श स्पष्ट है और उमराव को मर्द कभी समझ ही नहीं पाते। पूर्वा नरेश और हिदायत का नजरिया मुजफ्फर अली की रेखा अभिनीत फिल्म से अलग है और असामयिक भी है।

यह मुंबई नाट्यप्रेम है कि रात के दोनों शो फुल थे। सैकड़ों दर्शक टिकट नहीं मिलने के कारण निराश लौटे हैं। बहरहाल, यह उम्मीद कर सकते हैं कि यह नाटक हिन्दुस्तान के हर शहर में खेला और देखा जाएगा। ज्ञातव्य है कि फरीदा जलाल के भाई व फिल्मकार खालिद समी का बेटा हिदायत। **-जयप्रकाश चौकसे** (दैनिक भास्कर)

सामाजिक बदलाव के लिए साक्षरता जरूरी

सही मायने में शिक्षा, साक्षरता हमें बेहतर ज़िन्दगी जीने का सलीका सिखाती है। साक्षरता हमें सोचने-समझने की सकारात्मक दिशा प्रदान करती है। इसी के जरिए धीरे-धीरे सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। उक्त विचार डॉ. हेमंत खंडई, विभागाध्यक्ष (बी.एड.) सतत शिक्षा विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय भोपाल ने राज्य संसाधन केन्द्र, भोपाल द्वारा साक्षर भारत कार्यक्रम के अंतर्गत इंटर पर्सनल मीडिया कैम्पेन के लिए आयोजित पांच दिवसीय राज्य स्तरीय

कुशल प्रशिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के उद्घाटन अवसर पर व्यक्त किये। इस अवसर पर वरिष्ठ साहित्यकार एवं राज्य संसाधन केन्द्र, भोपाल की गवर्निंग काउंसिल के वरिष्ठ सदस्य राग तेलंग ने कहा कि गरीब आदिवासी, पिछड़े वर्ग एवं अल्पसंख्यक लोगों में और विशेष रूप से इन तबकों की महिलाओं का नाता पढ़ाई-लिखाई से जोड़ना महत्व का कार्य है। राज्य संसाधन केन्द्र, भोपाल के प्रभारी निदेशक संजय सिंह राठौर ने कहा कि पूरे भारत के 410 जिलों में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन प्राधिकरण, भारत सरकार द्वारा साक्षर भारत अभियान चलाया जा रहा है। साक्षर भारत के जनआंदोलन बनाने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण पहल है। इसमें साक्षर भारत कार्यक्रम के प्रस्ताव, कार्यात्मक साक्षरता, बुनियादी शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, सतत शिक्षा, विधिक साक्षरता-कर्तव्य, अधिकार एवं पात्रता, चुनावी साक्षरता, वित्तीय साक्षरता, आपदा प्रबंधन एवं नागरिक सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयों को भी शामिल किया गया है। कार्यक्रम का संचालन अनिल प्रकाश श्रीवास्तव ने किया। प्रशिक्षण विभाग के कार्यक्रम समन्वयक इम्तेयाज खान द्वारा प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण प्रदान किया गया। इस मौके पर कई गणमान्यजन उपस्थित थे।

मन लागो मेरो यार कबीरी में

भारती बंधु

कबीर गायन शैली में सिर्फ कबीर की कविता ही नहीं होती, अन्य संत-महात्माओं की वाणी और अजीम शायरों की शायरी भी प्रस्तुत की जाती है। कबीर को गाना बहुत चुनौतीपूर्ण है। कबीर में चेतना जगाने वाली एक आग है। उसमें क्रांति-तत्व हैं।

उन्होंने कबीर-गायन की अपनी एक अनूठी और मौलिक शैली आविष्कृत और विकसित की। इस शैली में सिर्फ कबीर की कविता ही नहीं होती, अन्य संत-महात्माओं की वाणी और अजीम शायरों की शायरी भी प्रस्तुत की जाती है। इसका सुविचारित संतुलन इन तरह से साधा जाता है कि कबीर-भाव अपनी केंद्रीयता नहीं खोता बल्कि सघनतर होकर विस्तार पाता है। उनकी गायकी में फक्कड़पन भी है और कहीं-कहीं अंदाज सूफियाना है। शास्त्रीयता तो है ही। यही कारण है कि यह शैली आभिजात्य और सामान्य वर्ग को एक साथ आकर्षित करती और अंतरतम का स्पर्श करती है। रायपुर के ये अनूठा गायक हैं भारती बंधु जिन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया जा चुका है।

भारती बंधु कहते हैं कि कबीर को गाना चुनौतीपूर्ण है। कबीर में चेतना जगाने वाली एक आग है। उसमें क्रांति-तत्व हैं। ये तत्व आपके बाहरी और भीतरी व्यक्तित्व का कायाकल्प कर सकते हैं। उनमें निरंतर बने रहने वाला एक 'टेम्पो' है, तेवर है। हर कोण से पाखंड पर प्रहार है लेकिन साथ ही अपने को तार-तार करने का दुस्साहस भी है। आत्म-आलोचना का ऐसा दुस्साहस भी है। आत्म-आलोचना का ऐसा दुस्साहस बिरले कवियों में है। तो जिसकी वाणी में बहुत सारे तत्व, भाव और विचार हों उसे गाना किसी भी कलाकार के लिए मुश्किल है। मुझे लगता था कि इतनी गूढ़ और गहन कविता को कैसे गाऊं कि वह सबके लिए सरल, सरस और सुगम हो जाए। इसलिए मैंने अन्य संतों-महात्माओं की वाणी को कबीर-वाणी से घुला-मिला दिया। फिर बड़े शायरों की शायरी को भी अपनी प्रस्तुति में शामिल किया जो कबीर-भाव से ही अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई हो। जब मैंने इस शैली में कबीर-गायन प्रस्तुत किया तो लोगों से अच्छा प्रतिसाद मिला।

कबीर के रंग में रंग जाने के सवाल पर वे कहते हैं कि हमारे उस्ताद कबीर का एक पद गाते थे : 'मन लागो मेरो यार फकीरी में। जब यह पहली बार कान में पड़ा तो सीधे आत्मा में उतर गया। मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया। बस, तब से एक धुन लग गई: मन लागो मेरो यार फकीरी में। अब ये जो फकीरी शब्द है, बहुत मस्त कर देने वाला है। यह लगातार मन-मस्तिष्क में गूंजता रहा। कौंधता रहा। फिर क्या, कबीर का जो रंग चढ़ा, वह आज तक नहीं उतरा। मैं उसमें रमने लगा। एक-एक पद को, एक-एक शब्द, भाव को समझने-महसूस रकने की कोशिश की। फिर गायन के लिए कबीर के पद चुने। रायपुर के विद्वानों से मैं सलाह लेता था, उनसे इन पदों को गहराई से समझने की कोशिश करता था। जब मैंने कबीर गायन शुरू किया, तो सोचता था कि कैसे कबीर का वह फक्कड़ अंदाज मेरे गायन में आ जाए। मैं चाहता था कि मैं भी इस तरह झूमकर गाऊँ जैसे एक फकीर गाता है। तो इसके लिए मैंने पारंपरिक शैली से थोड़ा हटकर अपनी एक शैली बनाई।

कबीर गायन की शुरुआत कैसे हुई? इस सवाल पर भारती बंधु कहते हैं, '1984-85 में अविभाजित म.प्र. में आदिवासी लोक कला परिषद रायपुर में 'वसंत जगार' सांगीतिक आयोजन करती थी। इस दरमियान मेरी मुलाकात डॉ. कपिल तिवारी से हुई। उन्होंने कहा कि आप जगार में पहले आधा घंटा गाकर बताइए। उन्होंने डेढ़ घंटे तक मेरा गायन सुना। सुनकर वे अभिभूत हुए। बाद में उन्होंने मुझे भारत-भवन में कबीर गायन के लिए आमंत्रित किया। वहाँ लोगों ने खूब सराहा। तब से यह यात्रा अनवरत जारी है।

तालीम लेने के सवाल पर वे कहते हैं कि गायन मुझे पुरखों से विरासत में मिला। मेरे पिता स्वामी विद्याधर गैना भारती धार्मिक अनुष्ठानों में सगुण-निर्गुण गायन करते थे। मेरे प्रारंभिक गुरु पिता ही थे। विधिवत तालीम मैंने किराना घराने के उस्ताद आशिक अली खाँ साहब सारंगी नवाज से हासिल की। फिर 15 साल तक सूफी संगीत की सीना-ब-सीना (आमने-सामने बैठकर) तालीम उस्ताद हाजी ईदअली शाह चिश्ती से ली। पिता ने कहा था, जो भी करो, श्रेष्ठ करो वर्ना मत करो। गुरु ने कहा पहला सबक पूरा न हो तो दूसरा सबक नहीं उठाना चाहिए। और सूफी उस्ताद ने कहा कि उच्चारण साफ और कलाम याद होना चाहिए। नम्र बने रहो और सब्र कायम रखो। इनके बिना कामयाबी नहीं मिलती। **-रवीन्द्र व्यास की बातचीत**

वनमाली कथा सम्मान

मंज़ूर एहतेशाम, ममता कालिया, सतीश जायसवाल, आनंद हर्षुल, पंकज सुबीर और कैलाश वनवासी का चयन

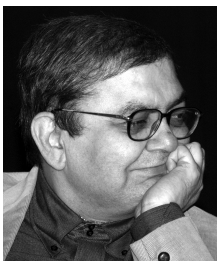
मंज़ूर एहतेशाम

ममता कालिया

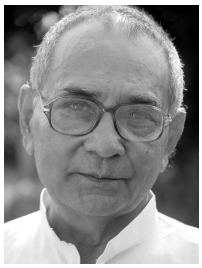
सतीश जायसवाल

बिलासपुर और भोपाल में अलंकरण समारोह

आनंद हर्षुल

पंकज सुबीर

कैलाश वनवासी

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में समान रूप से सक्रिय वनमाली सृजन पीठ द्वारा कथा साहित्य के क्षेत्र में स्थापित सम्मानों के लिए इस वर्ष लब्ध प्रतिष्ठ लेखकों मंजूर एहतेशाम, ममता कालिया, सतीश जायसवाल तथा प्रतिशाली युवा कहानीकार पंकज सुबीर, आनंद हर्षुल और कैलाश वनवासी को चुना गया है। सम्मान की निर्णायक जूरी में आलोचक-कवि राजेश जोशी, कथाकार, मुकेश वर्मा, आलोचक रामप्रकाश त्रिपाठी, कवि-पत्रकार महेन्द्र गगन तथा वनमाली सृजन पीठ के अध्यक्ष उपन्यासकार संतोष चौबे शामिल थे।

बिलासपुर और भोपाल में आयोजित अलंकरण समारोह में चयनित लेखक सम्मानित किये जा रहे हैं। उल्लेखनीय है कि हिन्दी के समकालीन रचना परिदृश्य में इन लेखकों ने अपने समय के अहम सवालों और चिंताओं को अपनी कथा-कृतियों में बेबाकी से मुखरित किया है। वनमाली सृजन पीठ के संयोजक विनय उपाध्याय के अनुसार चालीस और साठ के दशक में हिन्दी के कथा साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले मूर्धन्य लेखक, चिंतक से शिक्षाविद् श्री जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' की स्मृति में स्थापित इस प्रतिष्ठा सम्मान से अब तक असगर वजाहत, स्वयंप्रकाश, अखिलेश, शशांक, उदयप्रकाश, मैत्रेयी पुष्पा और मनोज रूपड़ा विभूषित किये जा चुके हैं। ये सम्मान प्रत्येक दो वर्ष में दिये जाते हैं।

सम्मान के तहत वरिष्ठ रचनाकारों को समग्र कथा लेखन के लिए इक्यावन हजार रुपए की राशि तथा युवा कथाकार को इकतीस हजार रुपए की राशि प्रशस्ति पट्टिका के साथ भेंट की जाती है। सम्मान अलंकरण समारोह दो चरणों में आयोजित किया जा रहा है। 28 फरवरी और 1 मार्च को बिलासपुर स्थित डॉ. सी.वी. रमन विश्वविद्यालय के सभागार में पहला अलंकरण प्रसंग आयोजित है। जिसमें छत्तीसगढ़ में साहित्य साधना कर रहे तीन कथाकारों सतीश जायसवाल, आनंद हर्षुल और कैलाश वनवासी को उनकी महत्वपूर्ण लेखकीय उपलब्धियों के लिए वनमाली स्मृति सम्मान भेंट किया जा रहा है। समारोह में हिन्दी के जाने-माने हस्ताक्षर मंज़ूर एहतेशाम, रामप्रकाश त्रिपाठी, शशांक, मुकेश वर्मा, महेन्द्र गगन, उर्मिला शिरीष, बलराम गुमास्ता, पंकज सुबीर, संजीव बख्शी, शरद कोकाश, त्रिलोक महावर, नासिर अहमद सिकंदर, बुद्धिलाल पाल, रामेश्वर साहू, के. रवीन्द्र, भास्कर चौधरी, रामकुमार तिवारी, प्रज्ञा रावत, राग तेलंग, मोहन सगोरिया, ब्रज श्रीवास्तव और हेमंत देवलेकर की वैचारिक उपस्थिति हो रही है। समारोह की पहली शाम भोपाल के प्रसिद्ध रंगकर्मी संजय मेहता द्वारा निर्देशित 'कर्मयोगी' का नाट्य मंचन शामिल है। वनमालीजी की कहानियों पर आधारित इस नाट्य रूपक की प्रस्तुति 'रंगशीर्ष' के कलाकारों ने संयोजित की है। समारोह के दूसरे दिन सुबह वनमालीजी के समकालीन शिक्षकों और वरिष्ठजनों का सम्मान तथा दोपहर के सत्रों में आमंत्रित रचनाकारों द्वारा कहानी और कविता पाठ भी शामिल हैं। इस अवसर पर वनमाली सृजन पीठ की संवाद पत्रिका 'रंग संवाद' के दसवें अंक तथा सांस्कृतिक प्रकल्पों पर एकाग्र बहुरंगीय पुस्तक 'बिंब-प्रतिबिंब' का लोकार्पण भी आकर्षण का केंद्र है।

25 मार्च को वनमाली सम्मान का दूसरा चरण भोपाल स्थित एन.टी.टी.टी.आई. सभागार में समारोह पूर्वक सम्पन्न होगा जिसमें मंजूर एहतेशाम, ममता कालिया और पंकज सुबीर को विभूषित किया जायेगा।

पाठक संवाद

रंग संसार की संपूर्ण पत्रिका

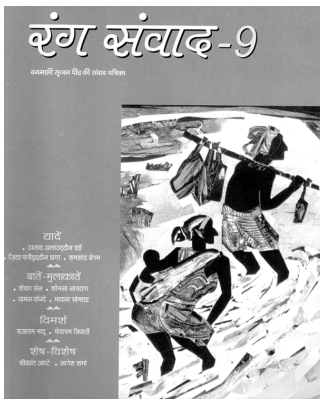

'परंपरा और आधुनिकता' शीर्षक संपादकीय पढ़ा तो लगा कि हजारों वर्षों के भारतीय इतिहास को आपने जितनी संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत किया है, तथा प्रायः सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण दिया है, वह पाठक के मन में भारत-बिम्ब को उतारने में पूर्णतः सफल रहा है। मैं इतिहासवेत्ता नहीं हूँ और न रंगकर्मी, परन्तु साहित्य का एक विनम्र छात्र हूँ। मुझे आपका लेख पढ़कर बहुत संतोष हुआ है, परन्तु मुझे लगता है कि भारतीय इतिहासवेत्ताओं ने जो कार्य किये हैं, वे हमारे ज्ञान को विकसित करते हैं। क्या आपको नहीं लगता कि इतिहास का हमारा जो ज्ञान है, वह योरोपियन इतिहासकारों का दिया हुआ है और अब उसे भारतीय इतिहासकारों की दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए। यहाँ एक उदाहरण देना चाहूँगा। आपने आर्यों के भारत आगमन की चर्चा की है, लेकिन इस सम्बन्ध में एक विचार यह भी है कि आर्य इसी देश के निवासी थे और वे कहीं से भी चलकर नहीं आये थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने आर्यों के भारत निवासी होने का प्रमाणिक विवेचन किया है। यदि आप इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं, तब भी क्या लेख में इसकी चर्चा उपयुक्त न होती?

'रंग संवाद' मेरे नाटक-प्रेम को समृद्ध करता है और मुझे नया-नया जानने का सुअवसर देता है और यह भी कि हिन्दी नाटक कितना समृद्ध, कितना लोकप्रिय तथा कितना मौलिकता से परिपूर्ण है। 'रंग संवाद' नाट्य-संसार की एक सम्पूर्ण पत्रिका है, और ऐसी सम्पूर्णता अन्य विधाओं की पत्रिकाओं में उपलब्ध नहीं है। क्या 'रंग संवाद' अभिमन्यु अनत जैसे प्रवासी हिन्दी नाटककार का नोटिस भी ले सकेगा? अभिमन्यु लगभग 50-55 वर्ष नाटक को दे चुके हैं, भारत में उनके नाट्यक्रम पर विचार होना चाहिए। संभवतः मेरा यह पत्र आपके मन में कुछ जिज्ञासा उत्पन्न करने में सफल हो सके। **-डॉ. कमल किशोर गोयनका, नई दिल्ली**

फिल्म इंस्टीट्यूट के वो दिन

'रंग संवाद-9' (सितंबर 2013) के अंक में फिल्म लेखिक भावना सोमय्या के साथ राखी झँवर का संवाद प्रकाशित हुआ है। भावना ने फिल्म एंड टेलीविज़न इंस्टीट्यूट, पुणे से 'फिल्म एप्रिशिएशन' का कोर्स किया है। भावना इसके 1983 के बैच में थीं। उस बैच में एक मैं भी था। छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जैसे एक अर्द्ध-नगर से गए हुए के लिए एक अजनबी संसार ही था। उसमें कुछ सादी-सादी सी दिखने वाली भावना के नजदीक अपरिचय और अजनबियत भी कुछ कम लगती थी। और इससे भी अलग एक बात, जो अब शायद भावना को याद भी ना हो, कि उस पूरे के बीच में एक-अकेली वो अपने बालों में फूल सजाया करती थीं। उन फूलों का रंग पीला हुआ करता था और पीला मेरा प्रिय रंग है। प्रायः दिल्ली, कलकत्ता, बैंगलोर, मद्रास (तब तक वह चेन्नई नहीं हुआ था) जैसे बड़े शहरों से आये हुए सबके सब या तो अपने क्षेत्र के ख्यातिनाम लोग थे या वो थे जो फिल्म की किसी शाखा में अपने करियर देख रहे थे। उस अनुभव संसार में अरुंधती नाग (आज लोक नाट्य की एक महत्वपूर्ण शख्सियत, बैंगलोर), ए.वी. राजाध्यक्ष, आदित्य भट्टाचार्य जैसे कुछ नाम हैं। और गेस्ट फैकल्टी में अकबर पदमसी, विजया मेहता, कुमार साहानी जैसे दिग्गज भी रहे जिनकी फिल्मों के प्रेजेंटेशन के साथ उनसे बातचीत के मौके मिले उनमें सईद मिर्जा, सई परांजपे, मणि कौल, श्याम बेनेगल जैसे धुरंधर और उनकी फिल्में रही थीं। नियमित लेक्चर्स और फिल्मों की स्क्रीनिंग्ज के अलावा फिल्म इंस्टीट्यूट की कैंटीन मेरे उस अनुभव संसार का वह हिस्सा हो जाता था जिसमें सामीप्य और स्पर्शनीय विश्वास के लिए काफी जगह होती थी। क्योंकि चाय की मेज पर कभी पूनम ढिल्लो या कभी दीप्ति नवल के साथ सीधे आमने-सामने की साझेदारी हो जाती थी। उन्हीं दिनों दीप्ति नवल की कविताओं का संकलन 'लम्हे' छपकर आया था। एक फिल्म अभिनेत्री को एक कवि की तरह देखने और उसके साथ बात करने का विचार और साहित्यकार के साथ बराबरी की मुलाकात! मेरे बगल वाले कमरे में कोई युवती रहती थी। वह जिसके प्रेम में डूबी हुयी थी, वह उससे मिलने के लिए हर शाम यहाँ आता था। और फिर दोनों किसी उस तरफ निकल जाया करते थे जिधर उनके प्रेम के लिए कोई विस्तार होगा। एक दिन वह देर से पहुँचा। तब तक वह प्रेमातुरा नायिका नाराज होकर किसी तरफ निकल चुकी थी और अपने पीछे, दरवाजे के ताले पर एक सन्देश छोड़ गयी थी- ''तारों को देखने के लिए जा रही हूँ। मूर्ख, मुझसे मिलने के लिए वहीं आ जाओ, यदि लगे तो।''

मैं जानता हूँ कि किसी का प्रेम सन्देश चोरी से पढ़ लेना अच्छी बात नहीं है। लेकिन, ना पढ़ता तो प्रेम के इतने सुन्दर अनुभव का स्पर्श किये बिना ना रह गया होता? **-सतीश जायसवाल, बिलासपुर**

निष्पक्ष मंच कला का

'प्रतिरोध का रंगमंच' राजाराम भादू जी का आलेख नुक्कड़ नाटकों के जन्म से लेकर आज तक उसके द्वारा तय किये गए विभिन्न सोपानों की जानकारी देता है। 'स्मृतियों के लोकरंग' में सारे प्रदेशों की रंगमंचीय शैलियों के बारे में अभूतपूर्व जानकारी प्राप्त हुई, छत्तीसगढ़ के नाचा, उ.प्र. की रामलीला, बंगाल की जात्रा, महाराष्ट्र के तमाशा के अलावा नटकौरी (जिंदवा), मनसुखा, हिन्गाला, लकड़बग्घा, नौटंकी आदि के बारे में पढ़ना सुखद रहा वर्ना तो हम बोलचाल की भाषा में रंगमंच की हर प्रस्तुति को नाटक ही कह देते हैं। प्रभा जैन का लेख 'आलम से बाबा की कथा' 'रंग संवाद' सबसे आकर्षक प्रस्तुति हैं। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब के बारे में इतनी तफसील से जानने का मौका पहली बार मिला पढ़कर सर श्रद्धा से नतमस्तक हो गया। रामप्रकाश त्रिपाठीजी को पढ़ने का मौका पहली बार मिला, जितना सटीक बोलते हैं उतना ही सटीक लिखते भी हैं। बेनू गांगूली, शमशाद बेगम पर लिखे लेख भी उल्लेखनीय हैं। के.रवीन्द्र के चित्र ने सुन्दरता में चार चाँद लगा दिए हैं। कला के सभी पहलुओं को निष्पक्ष आलोकित करता 'रंग संवाद' का मंच निरन्तर समृद्ध हो, यही कामना। **-प्रतिभा गोटीवाले, भोपाल**

रामनिवास गुंजन, आरा (बिहार), नवल जायसवाल (भोपाल), राधेलाल बिजधावने (भोपाल), प्रदीप जिलवाने (खरगोन), ललित नारायण उपाध्याय (खंडवा), वर्षा पारे (बड़ोदरा), के. रवीन्द्र (रायपुर), रीटा जोसफ (लखनऊ), विवेक पारीख (नोएडा), पद्माकर पागे (रतलाम) की प्रतिक्रियाएँ भी मिलीं।